वक्ता शतसहस्रेषु दाता भवति वा न वा ॥

अर्थात् लाखों में कोई एक वक्ता होता है।

आप सचमुच ही लाखों में से एक प्रखर वक्ता हैं बोलते समय आप की केवल मुबारक जबान ही नहीं बोल रही होती अपितु आप का रोम २ बोल रहा होता है ! आप के तेजस्वी मुख और दिव्य शरीर से टपकने वाला प्रत्येक स्वेद-विन्दु अमृत की बून्द होता है।

आप के ओजस्वी भाषण मिथ्यात्व की काली घटाओं को उड़ाने के लिए सचमुच तूफान का काम करते हैं। जैन धर्म के अहिंसा वाद कर्मवाद, अनेकान्तवाद, ईश्वरवाद, साम्य-वाद, अपरिग्रहवाद आदि सिद्धान्तों को उपस्थित करने में आप सिद्धहस्त हैं ! जैनसमाज का तो कोई भी अभागा व्यक्ति ऐसा न होगा जिस ने आप की ज्ञान—गंगा में आत्म-स्नान न किया हो।

जैनेत्तर समाज पर भी आपके प्रभाव शाली और धारा वाही भाषणों की एक धाक जमी हुई है। विशेषकर पंजाब प्रान्त में तो आप के व्याख्यानों ने एक थलका मचाया हुआ है।

जैन धर्म के सिद्धान्त बेशक महान और सर्वोच्च हैं किन्तु यह बात कहने मे मुझे कोई संकोच नहीं कि आज से कुछ वर्ष पहले वह अन्धकार में छिपे हुए थे। बहुत कम लोग थे जो हमारे सिद्धान्तों से परिचित थे और बहुत कम सन्त थे जो सार्वजनिक भाषण दे सकते थे। चन्द एक इनीगिनी व्यक्तिएँ थीं जो वक्तृता के कौशल में पारंगत थीं और उन में से एक हमारे प्रेम चन्द जी महाराज भी हैं। जो इस काम में विशेष कर सब से एक कदम आगे हैं ! अपनी विचार सरणी को खुले प्लेटफार्म पर लाने का अधिक

श्रेय आप श्री जी को ही प्राप्त है।

मैं देखता आ रहा हूं कि अपनी जैन समाज की पुरानी (old) व्याख्यान पद्धति को। प्रायः मुनिराज स्थानक की चारदिवारी में ही अपना प्रवचन फरमाते थे। श्रोता 'तहत्ति' महाराज करते जाते थे और साथ ही साथ मीठी २ नींद की हिलोरें भी लेते जाते थे और साधुओं के व्याख्यान स्थानक की चार दिवारी के साथ टकरा कर हवा में उड़कर सदा के लिये शून्य में विलीन हो जाते थे!

किन्तु हमारे पंजाब केसरी जैन भूषण श्री प्रेमचन्द जी महाराज ने समाज के मुनियों को चार दिवारी से बाहर निकलने की और खुले मैदान में दहाड़ने की और निर्भीक सिंह-गर्जना करने की एक अमर प्रेरणा दी है। जिसके फलस्वरूप कुछ एक मुनि समाज के रंगमंच पर अपनी वाणी के कौशल दिखा रहे हैं।

सन्तों की वाणी दुर्लभ और अनमोल होती है यह कोई यूँही खो देने वाली चीज नहीं। स्मरण रहे कि संसार को बहुत बड़ा साहित्य, सन्तों की वाणिओं से ही प्राप्त हुआ है विशेष कर भारत के आध्यात्मिक साहित्य (Litrature) का तो मूलाधार ही सन्तों, मुनियों और साधुओं की वाणी है। महात्माओं ने अपने सुलझे, मंजे और नपे-तुले जीवन के अनुभव विश्व को दिये और वे अक्षरों में ढल कर साहित्य बन कर हमारे सामने आ गया मानों वह हमारे लिये एक चमचमाता हुआ आदित्य है और आज तक वह हमारा पथ-प्रदर्शन करता रहा है। और युगों युगों तक करता रहेगा। कहा भी तो है :—

है अन्धकार वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है।
है मुर्दा वह देश जहाँ साहित्य नहीं है॥

महात्मा जब अपने आप में खोये हुए से बोलते हैं तो उन का एक २ शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखने से सम्बन्ध रखता है।

इसी पावन उद्देश्य को लेकर श्री प्रेमचन्दजी महाराज के सुनहरी उपदेशों को अक्षरों के सांचे में ढाला जा रहा है! आपकी अनमोल वाणी को भावी सन्तान के लिए सुरक्षित रखने के लिये आप के भाषणों की (Series) निकाली जा रही है।

आपके भाषणों का यह संकलन और संग्रह प्रत्येक दृष्टि से स्तुत्य है! इस प्रशंसनीय कार्य की भला कौन सराहना न करेगा आप के व्याख्यान कोई केवल दोहा, चौपाई, भजन व और कहानी के मिलाप से बने हुए नहीं होते अपितु आप के भाषणों में जैनत्व की एक महान झलक होती है और सिद्धान्त की एक गहरी पुट! सत् पक्ष मंडल और असत पक्ष खंडण ऐसी अकाट्य युक्तियों से किया जाता है कि एक बार तो विरोधी भी मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगता है! ऐसे भाषणों को एक समाज की सीमा में आबद्ध रखना मैं तो समझता हूं कि यह सतवाणी से एक प्रकार का अन्याय करना है समाज ने आप के व्याख्यानों का मूल्य समझा! और आज उन की पुस्तकें अलग २ विषयों पर अलग २ भागों में छपकर जनता के हाथों में पहुँच रहीं है। और यह अतीव हर्ष का विषय है कि जनता ने इस प्रयास का स्वागत किया है!

आपके उपदेशों के अभी तक दस भाग प्रकाशित हो चुके हैं। जिनका मनोहारी नाम है 'प्रेम सुधा' कितना सरल, सुन्दर और सौम्य नाम है।

कौन है वह जो इस 'प्रेम-सुधा' का पान न करना चाहे!

यह इस "प्रेम-सुधा" का ग्यारवां भाग है जो आप के कर कमलों को सुशोभित कर रहा है मुझे इस से पहले प्रकाशित

कतिपय भागों को अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जिन में, धर्म, आत्मा की सिद्धी, भजन की उपयोगिता, अर्हन्नाम की महिमा और सुख की शोध, सम्यकत्व के दस प्रकार आदि विषयों पर बड़े रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है। जो अति ही आत्मबोधक है इस ग्यारहवें भाग में आत्म वाद और कषाय निरोध आदि विषयों का प्रतिपादन अत्यन्त मार्मिक शैली से किया गया है। इस प्रकार मैं अधिक कहाँ तक लिखूँ आप के उपदेशों के समस्त भाग पढ़ने से ही सम्बन्ध रखते हैं। मैं आशा करता हूं कि जनता पहले भागों की भान्ति इस प्रस्तुत भाग को भी 'स्वागतम्' कहेगी मेरी यह प्रबल इच्छा है कि इस प्रकार की धार्मिक पुस्तकों के सैट (Set) हर पुस्तकालय और प्रत्येक घर में होने चाहिये जिस को पढ़ कर, बालक, युवा वृद्ध नर और नारी सभी अपने जीवन-कल्याण का मार्ग देख सकें

अन्त में एक बात और भी हमारे परम श्रद्धेय पंजाब केसरी जी ने इस अपने नवीन भाग की भूमिका लिखने का काम मुझ नाचीज़ को सौंपा है। चाहिये तो यह था कि इस की भूमिका कोई विद्वान लिखता किन्तु यह महाराज श्री की उदारता और कृपा है जो उन्हों ने इतना बड़ा काम मेरे जैसे तुच्छ व्यक्ति को दिया है जिस के लिये मैं अपने आपको सर्वथा अयोग्य समझता हूँ। किन्तु फिर भी मैं ने दुस्साहस करके ये कुछ टेढ़ी-बेढ़ी काली लकीरें खींच दी हैं! पता नहीं ये कहाँ तक ठीक हैं यह तो पाठक स्वय देखेंगे

अन्त में मेरी यही मंगल कामना है कि महाराज श्री जी के उपदेश इसी प्रकार आगे भी प्रकाशित होते रहे, ये लोक प्रिय बनें और जनता इन से अधिकाधिक लाभान्वित होती रहे।

भवदीय मुनि मनोहर 'कुमुद'

विषयसूची

विपय

ओ३म्

'दो शब्द'

"आप जीवन में अवश्य सफल हो सकते हैं।"

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में, अपने ध्येय में अवश्य सफल हो सकता है।

परिस्थितियों को दोष देना निर्बलता का दूसरा नाम है।

मेरे मन में बहुत समय से उत्कट इच्छा थी की आत्मबोधक अंतर चेतना के उद्योतक आध्यात्मिक प्रवचनों का एक संग्रह पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाए जिससे जनसाधारण,ज्ञान प्राप्त कर अधिक से अधिक आत्म कल्याण कर सकें वि० सं० २०१६ वीर सं० २४८६ का चतुर्मास जैन भूषणस्वामी प्रेम चन्द्रजी महाराज का रेमहा नगर अमृतसर में हुआ, मैंने महाराज श्री जी से अपने उपरोक्त विचार प्रकट किये, महाराज श्री ने फरमाया कि प्रेमसुधानामक व्याख्यान माला का प्रकाशन चल रहा है जिसका लाभ आप भी ले सकते हो, मैं अति हर्षानुभव करता हू कि गुरु महाराज की अगाध कृपा से मैं इस शुभ कार्य में सफल हो पाया हूं।

मुझे बाल्यकाल से ही जैन मुनियों के दर्शनादि करने का प्रेम रहा है दुर्भाग्य से छः वर्ष की अल्पायु में ही पिता और भाइयों का साया सिर से उठ आने के कारण घोर विपत्तियों से दो-चार होना पड़ा। अपनी आजीविकोपार्जन के लिए कौन २ से पापड़ वेलने पड़े। अपनी जन्म भूमि मालेरकोटला का परित्याग करके, दो कौर अन्न के लिए इतस्ततः भटकना पड़ा, साथी, सम्बन्धी सब ने मेरा साथ छोड़ दिया। उस समय मेरी स्थिति A fish out of the water के समान थी, मेरी जीवन नैय्या भवर में पड़ी किश्ती की भान्ति डगमगा रही थी। इस संसार सागर से पार उतरने का कोई

उपाय सूझ नहीं रहा था। ऐसे आपत्ति काल में मुझे मेरे पुण्योदय से वर्तमानाचार्य सम्राट १००८ श्री आत्माराम जी महाराज के दर्शनों का अमृतसर में सौभाग्य प्राप्त हुआ। सहसा उनके मुखारविन्द से यह शब्द निकले—"राजा राम! जब वह दिन न रहे तो यह दिन भी न रहें गे।"

इन शब्दों का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि मेरी जीवन दशा ही परिवर्तित होने लगी। डूबती नैय्या को आश्रय मिल गया। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मैंने पुनः सब कुछ पा लिया। महाराज श्री जी की जो कृपा मुझ पर हुई है मैं उस का वर्णन नहीं कर सकता अन्त में मैं आशा करता हूँ कि जिस प्रकार प्रेम-सुधाव्याख्यानमाला के अन्य भागों से जनता ने लाभ उठाया है उसी प्रकार इस ११ वें भाग से भी पाठक जन लाभ उठाएंगे।

(राजाराम)

राजा राम एण्ड सन्ज़
मोटर पार्टस डीलर्ज
अमृतसर

नाम-महिमा

अरिहन्त अरिहन्त अरिहन्त ।
अरिहन्त भगवंत अरिहन्त अरिहन्त ।

अभी-अभी आपके समक्ष अरिहन्त भगवान् की स्तुति की गई है । अरिहन्त भगवान् हमारे परमोपास्य पाँच परमेष्ठियों में प्रथम नम्बर में आते हैं । इन पाँच परमेष्ठियों में आद्य दो पद देव के हैं और अन्तिम तीन पद गुरु के हैं । अरिहन्त और सिद्ध देव हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु है । हमारे लिए देव और गुरु दोनों ही उपास्य हैं । हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? हम संयम की श्रेयस्कर यात्रा पर जो चल पड़े हैं सो इस यात्रा का विराम कहाँ होगा ? किस स्थिति पर पहुँचने के लिए हमारी यात्रा का यह शुभ समारभ है ? इस तथ्य का निदर्शन करने के लिए देव हमारे लिए आदर्श हैं ।

मगर यात्रा की सफलता के लिए भी कुछ आवश्यक और अनिवार्य शर्तें है । प्रत्येक यात्री मंज़िल तक नहीं पहुँच सकता । यात्रा में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों को जो भली भाँति समझता है और उनके प्रति जो सतर्क और सावधान रहता है, और अपने से पहले तथा आगे गये हुए यात्रियो के आदर्श को जो अपने सामने रखता है । वही अपनी मंज़िल तक सकुशल पहुँच सकता है और उसी की

यात्रा सफल होती है। इसके लिए गुरु हमारे सामने आदर्श रूप हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक यात्रा की सफलता के लिए हमें देव और गुरु, दोनों का आदर्श सन्मुख रखना चाहिए और इसी कारण पाँच परमेष्ठियों में देव तथा गुरु दोनों को स्थान दिया गया है।

हमारे लिए देव और गुरु दोनों उपास्य और आराध्य हैं। मगर गुरुओं के उपासनीय भी जितेन्द्र देव ही हैं। अतएव परमेष्ठियों में देवों का, प्रथम और गुरुओं को द्वितीय स्थान दिया गया है। यह उचित ही है।

मगर यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार धातिक कर्मों का समूल क्षय करके जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् और वीतराग हुए हैं, वे अरिहन्त कहलाते हैं। अरिहन्त दशा में चार अधातिक कर्म शेष रहते हैं। जिनके कारण वे सशरीर होते हैं। और उन-उन कर्मों के विभिन्न प्रकार के विपाक का अनुभव करते हैं। किन्तु सिद्ध भगवन्त आठों कर्मों से विमुक्त होते हैं। वे सर्वथा निरंजन, निराकार, निर्विकार होते हैं। उन्हें आत्मा के पूर्ण विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो अरिहन्त भगवान् भवस्थ केवली हैं। और सिद्ध भगवान पूर्ण मुक्त केवली है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से स्पष्ट है कि अरिहन्त भगवान् की अपेक्षा सिद्ध प्रभु का आत्मिक विकास उच्चतर है। तथापि पाँच परमेष्ठियों में अरिहन्त भगवान् को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है और सिद्ध भगवान् को दूसरा। इसका क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र में दिया गया है। वह यह है कि इस क्रमविपर्यास का कारण उपासकों की कृतज्ञता-भावना है। सिद्धि भगवान् इस जगत

में दूर, अतिदूर, लोक के अग्रभाग पर, सिद्ध-शिला से भी उपर पहुँच कर विराजमान हो जाते हैं। इस जगत् के साथ उनका कोई नाता नहीं रहता। वे संघ–तीर्थ से भी अतीत हो जाते हैं। किन्तु अरिहन्त भगवान् सशरीर परमात्मा होने के कारण साधु साध्वी-श्रावक श्राविका रूप धर्म तीर्थ की सस्थापना करते हैं और मुमुक्षु प्राणियों को आत्म-कल्याण का पथ प्रदर्शित करते हैं। हमें जो भी श्रुत अथवा धर्म परम्परा से प्राप्त है, वह सब अरिहन्त देव के ही परम अनुग्रह का फल है। इस प्रकार अरिहन्त भगवान् हमारे अपेक्षाकृत अधिक उप-कारक हैं और इसी कारण उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के लिए उन्हें प्रथम स्थान प्रदान किया गया है।

कहा जा सकता है कि यदि उपकार की दृष्टि से ही क्रम निर्धारित करना योग्य है तो अरिहन्त से भी पहले आचार्य, उपाध्याय और साधु को ग्रहण करना चाहिए और नमस्कारमंत्र में पहले गुरुओं को और फिर देवों को स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि आज अरिहन्त भगवान् के अभाव में गुरु महाराज ही हमारे अरिहन्त उपकारक हैं। फिर उन्हें बाद में स्थान क्यों दिया गया है?

इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर पहले आ गया है। कहा जा चुका है कि अरिहन्त और सिद्ध भगवान् गुरुओं के लिए भी आराध्य हैं, अतएव उन्हें पहले स्थान मिलना ही उचित है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि पच-नमस्कार मत्र सिर्फ श्रावकों के लिए ही नहीं; वरन् आचार्य, उपाध्याय और साधु के लिए भी है और उनके लिए भी अरिहन्त और सिद्ध उपास्य हैं।

इतना होने पर भी पंचनमस्कार मत्र में गुरुओं के महत्त्व की पूर्ण रक्षा की गई है। वहाँ दो पद देवों के हैं तो तीन पद गुरुओं के हैं।

आचार्य, उपाध्याय और साधु के तीन पदों को स्थान देने में क्या रहस्य है और क्या उनकी उपयोगिता है, इस सम्बन्ध में विवेचना करने का यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो अरिहन्त भगवान् के सम्बन्ध में ही कुछ बातें बतलानी हैं।

'अरिहन्त' यह एक सार्थक नाम है। सार्थक नाम में एक प्रकार की विशेषता होती है। यह सार्थक नाम भी किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, किन्तु जाति वाचक नाम है। जैन धर्म किसी व्यक्ति का पूजक नहीं है। वह विशिष्ट गुणों का पुजारी है और वे गुण जिन-जिन में पाये जाते हैं, उन सब परमात्म स्वरूप पुरुषों को वह वन्दनीय मानता है।

अगर हम काल और क्षेत्र की परिधि को लांघ कर विचार करें तो प्रतीत होगा कि अनादि काल से अब तक अनन्त-अनन्त अरिहन्त हो चुके हैं।

तो 'अरिहन्त' नाम नाम कर्म के उदय से प्राप्त नहीं होता है, यह नाम उनके गुणों की विशिष्टता का सूचक है। इस नाम में अद्भुत महिमा और शक्ति निहित है। अरिहन्त भगवान् का नाम जपने से मनुष्य भवसागर से पार हो जाता है। कई लोगों को शंका होती है कि नाम के जाप से क्या लाभ हो सकता है? किन्तु नाम की वास्तविक महिमा का अनुभव करने के लिए श्रद्धा चाहिए, हृदय में विश्वास होना चाहिए।

हाँ, यह स्पष्टीकरण कर देना अनुचित नहीं होगा कि शंका करना एकान्ततः अनुचित नहीं है। नीतिकार कहते हैं—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात् —मनुष्य जब तक संशय नहीं करता तब तक उसका

कल्याण नहीं होता।

इस प्रकार संशय भी मनुष्य के लिए कभी-कभी लाभदायक सिद्ध होता है। किन्तु प्रत्येक वस्तु की एक सीमा होती है। उस सीमा के भीतर वह लाभदायक हो सकती है। सीमा का उल्लंघन होने पर वह हानिकारक भी हो जाती है।

जो मनुष्य बात-बात में शंका करता है और कहीं भी विश्वास नहीं जमा सकता, उसका आध्यात्मिक जीवन तो बन ही नहीं सकता, व्यवहारिक जीवन भी नहीं चल सकता। व्यवहारिक जीवन में भी पद पद पर विश्वास करना पड़ता है। कहा भी है —

शंकाभिः सर्वमाक्रान्तं मन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या, जीवितव्यं कथन्नु वा ? ॥

अर्थात् — इस पृथ्वीतल पर समस्त भोजन-पानी आदि वस्तुओं में शंका की जा सकती है। भोजन का थाल सामने आने पर संदेह किया जा सकता है कि इसमें किसी ने जहर तो नहीं मिला दिया है ? पानी में विष का मिश्रण तो नहीं है ? ऐसी स्थिति में मनुष्य का जीवन किस प्रकार निभ सकता है ?

धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में तो श्रद्धा और विश्वास के सहारे ही प्रवेश किया जा सकता है। जिस का अन्तः करण निरन्तर शंकाकुल रहता है और विश्वास से विहीन है, उसमें धार्मिकता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती।

हाँ, तो शंका भले हो मगर वह भी विश्वासमूलक होनी चाहिए। गौतम स्वामी के विषय में भी शास्त्र में उल्लेख है कि उन्हें संशय उत्पन्न हुआ तो उसका निराकरण करने के लिए वे भगवान् के निकट पहुँचे। तो उनका सन्देह अश्रद्धामूलक नहीं, श्रद्धामूलक था,

समाधान प्राप्त करने के लिए था। भगवान् के समक्ष उन्होंने अपना संशय निवेदन किया और समाधान प्राप्त किया इससे उन्हें और अन्य लोगों को भी लाभ हुआ। वस्तुस्वरूप पर विशेष प्रकाश पड़ा। अभिप्राय यह है कि शंका करना अनुचित नहीं है, पर उसके पीछे अविश्वास, अनाश्वास और दुराग्रह नहीं होना चाहिए, बल्कि विशुद्ध जिज्ञासा होनी चाहिए और जब उस शंका का समाधान हो जाय तो विश्वास करना चाहिए।

कभी-कभी सुयोग्य विद्वान तत्त्वज्ञ का संयोग नहीं मिल पाता और शंका का पूरी तरह समाधान नहीं होता। उस स्थिति में भी विश्वास रखना चाहिए कि सर्वज्ञ वीतराग का कथन अन्यथा नहीं हो सकता। उसे समझने या समझाने वाले की असमर्थता हो सकती है, पर भगवान् का कथन तो संशय से परे है। इस प्रकार की श्रद्धा जिसे प्राप्त है, वह पुण्यवान् है, भाग्यवान् है और उसका कल्याण होता है।

तो भगवान् के नाम में अपूर्व शक्ति है। उनके सार्थक नाम में जो गुण रहे हुए हैं, नामोच्चारण से उन गुणों के प्रति हमारे अन्तःकरण में श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न होती है, एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न होता है और उसके फलस्वरूप हम उन्हें प्राप्त करने के लिए उद्योगशील बनते हैं। इस प्रकार हमारी आत्मा उन गुणों में ओतप्रोत हो जाती है। गुणों का चिन्तन गुणप्राप्ति का कारण बनता है।

तो अरिहन्त और तीर्थंकर नाम सार्थक हैं। इन नामों का विशिष्ट अर्थ है। इन पदों में गंभीर भाव छिपा है।

श्री अनुयोग द्वार सूत्र में तीन प्रकार के नाम बतलाये गये हैं—(१) यथार्थ नाम (२) अयथार्थ नाम और (३) अर्थ-शून्य नाम। जैसा नाम हो वैसे ही गुण हों या जो नाम गुणों के अनुसार हों वह

यथार्थ नाम कहलाता है। जैसे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहना। तीर्थंकर शब्द का जो अर्थ है, वह अर्थ तीर्थंकर में घटित होता है, अतएव तीर्थंकर नाम यथार्थ।

तीर्थंकर तीर्थ के संस्थापक हैं। वे स्वय तीर्थ नहीं हैं। भगवती सूत्र में उल्लेख है कि श्री गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया– हे भगवन्! तीर्थंकर तीर्थ हैं या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि तीर्थंकर तीर्थ नहीं हैं, वे तो तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं।

इस प्रकार 'तीर्थंकर' नाम एक विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। यह अर्थ जिसमें घटित होता है, उसे तीर्थंकर सज्ञा प्रदान करना सार्थक नाम है।

इसी प्रकार जिसने राग, द्वेष, मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं का हनन कर दिया है अर्थात् अपनी आत्मा से इन्हें पृथक् कर दिया है, उसे अरिहन्त कहना भी सार्थक नाम है।

'अरिहन्त' शब्द का उच्चारण करने के कई रूप हैं। अरिहन्त के स्थान पर अर्हन्त और अरुहन्त शब्दों का भी उच्चारण किया जाता है। इस उच्चारण भेद से उनके अर्थ में भी भिन्नता हो जाती है। 'अर्ह' धातु से 'अर्हन्' शब्द की सिद्धि होती है, जिसका अभिप्राय यह है कि अर्हन् भगवान् सुरों और असुरों तथा मनुष्यों के इन्द्रों द्वारा की जाने वाली पूजा के योग्य हैं। देवगण अष्टमहाप्रातिहार्यों की रचना करते हैं, यही भगवान् की पूजा है। वस्तुतः सर्वज्ञता और वीतरागता प्राप्त कर लेने के कारण अरिहन्त भगवान् तीनों जगत् के पूज्य हो जाते हैं; इस कारण उन्हें 'अर्हन्' संज्ञा दी गई है। यह भी यथार्थ नाम ही है।

केवली भगवान् चार घातिया कर्मों का तथा उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले समस्त विकारों का अन्त कर देते हैं और वह अन्त इस प्रकार करते हैं। कि वे विकार फिर कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते-कभी अपना सिर नहीं उठा सकते। अतएव भगवान् को 'अरुहन्' भी कहते हैं।

वस्तुत. कर्म ही आत्मा के अरि-वैरी-हैं। इस संसार अटवी में परिभ्रमण कराने वाले और संसार रूपी सागर में गोता खिलाने वाले असली दुश्मन कर्म ही हैं। यह बात दूसरी है कि मनुष्य वहिर्दृष्टि होने के कारण कर्मों को अपना शत्रु नहीं समझता और अन्य व्यक्तियों को वैरी मान बैठता है। यह उसका भ्रम है। कर्मशत्रुओं का विनाश हो जाने पर बाहरी शत्रु कोई रह ही नहीं जाता।

यहाँ एक आशंका की जा सकती है कि अरिहन्तों ने सिर्फ चार घातिक कर्मों का ही नाश किया है। चार अघातिक कर्मों का नाश करना उनके लिए शेष रहता है। जब तक आठों कर्मों का विनाश न कर दिया जाय तब तक कैसे कहा जा सकता है कि उन्होंने कर्म-शत्रुओ का विनाश कर दिया है? और तब तक उन्हें 'अरिहन्त' का पद भी कैसे प्राप्त हो सकता है? ऐसी स्थिति में 'अरिहन्त' नाम यथार्थ नाम कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर इसका यह है कि- यह बात ठीक है कि अरिहन्तों ने चार घातिया कर्मों का ही क्षय किया है और वे शरीरधारी हैं, किन्तु उन्होंने जन्म-मरण की सत्ता को निर्मूल कर दिया है। जन्म-जरा-मरण के कारण मूल कर्मबीज को सदा के लिए दग्ध कर दिया है। अतएव वे अरिहन्त कहलाते हैं।

श्रीमद् भगवतीसूत्र के अनुसार 'चलमाणे चलिए'

अर्थात् जो कार्य प्रारंभ हो चुका है, वह एक नय की अपेक्षा से

'पूर्ण हो गया है' ऐसा कहा जा सकता है। अरिहन्त भगवान् ने कर्म विनाश का कार्य आरम्भ ही नहीं कर दिया है बल्कि उसके प्रधान भाग को सम्पन्न भी कर लिया है। ऐसी स्थिति में उन्हें अरिहन्त कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है।

दूसरी बात यह है कि घातिकर्म ही वास्तव में आत्मा के शत्रु हैं। अघातिकर्म तो घातिकर्मों के पिछलग्गू हैं। वे घातिकर्मों के अभाव में आत्मा का कोई बिगाड़ नहीं कर सकते। जन्म-मरण के चक्र को चालू रखने का सामर्थ्य उनमें नहीं है। अतएव अघाति कर्मों की सत्ता, घातिकर्मों का विनाश हुआ वहाँ अघातिकर्मों का विनाश अवश्यंभावी है। इस दृष्टिकोण से सशरीर केवली को 'अरिहन्त' कहना उचित ही है।

'चलमाणे चलिए' इस सिद्धान्त को विस्तार से समझाने की आवश्यकता है। किन्तु विस्तार करने पर वह पृथक् ही विषय हो जाएगा और प्रकृत विषय अधूरा रह जाएगा। अतएव उसका संक्षेप में निर्देश मात्र कर दिया गया है।

यथार्थ नाम का एक उदाहरण 'जीव' है। जीव को प्राणी, सत्त्व, हंस, चेतन और भूत भी कहते हैं। यह सब सार्थक नाम हैं। देव, मानव, नारक, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि सर्व प्राणी 'जीव' कहलाते हैं। भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है कि आत्मा जीव क्यों कहलाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि जीवन धारण करने से अर्थात् आत्मभाव से जीवित रहने के कारण जीव 'जीव' कहलाता है।

आत्मा को प्राणी भी कहते हैं। जो प्राण धारण करता है। वह प्राणी कहलाता है। जैसे धन से धनवान् और विद्या से विद्यावान् शब्द बने हैं, वैसे ही प्राण से प्राणी शब्द निष्पन्न हुआ है यह भी गुणानुसार नाम है।

प्राण दस प्रकार के होते हैं:—पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु। जीव इन दस प्रकार की शक्तियों के आधार से क्रिया करता है। आत्मा जब तक विभावदशा में है तब तक इन्हीं दस शक्तियों से संसार का चक्र चलाता है। मगर सभी प्रकार के जीवों को यह दसों शक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। जिस जीव ने जितना अधिक पुण्योपार्जन किया और अन्तराय कर्म को तोड़ा है। उसे उतना ही धन प्राप्त होता है। इसी प्रकार किसी जीव को चार प्राण और किसी को दस प्राण प्राप्त होते हैं।

मैं आप से प्रश्न करता हूँ— समुच्चय रूप से एक जीव में ऊपर कहेगए दसप्राणों में से कम से कम कितने प्राण हो सकते हैं?

[श्रोताओं में से किसी ने तीन और किसी ने चार प्राणों का होना बतलाया]

आपका उत्तर ठीक नहीं है। भगवती सूत्र के अनुसार एक जीव में कम से कम दो प्राण होते हैं।

जब जीव एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है। तब छह बोल बाँध कर साथ ले जाता है-(१) गति (२) जाति (३) स्थिति (४) अवगाहना (५) अनुभाग और (६) प्रदेश। जीव जिस शरीर को छोड़ देता है, उसका आयुष्य पूर्ण हो चुकता है। और जब तक जीव नवीन शरीर ग्रहण नहीं कर लेता अर्थात् विग्रह गति की अवस्था में है,तब वह नवीन शरीर की आयु का भोग करता है। अर्थात् वह गति शील-आत्मा अगले होने वाले जन्म की आयु भोगता है।

शास्त्र में पाठ आता है—आउक्खएणं, भवक्खएणं ठिइक्खएणं अर्थात् आयु का क्षय करके, भव का क्षय करके और स्थिति का क्षय करके (अमुक गति में गया।)

यहां भव का क्षय तो सहज ही समझ में आ सकता है कि उस जीव को वर्त्तमान भव-जन्म का क्षय हो गया और नवीन भव में गया। मगर आयु और स्थिति क्या है? इन दोनों में क्या अन्तर है?

किसी भी शरीर में अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक उसी भव का आयुष्य भोगना पड़ता है, परन्तु वर्तमान शरीर छोड़ने पर, जब तक नया शरीर धारण नहीं कर लिया जाता, तब तक अर्थात् विग्रह गति में जीव एक, दो या तीन समय तक जिस गति में वह जाने वाला है, उसका आयुष्य भोगता है। उस समय में पिछली गति की आयु नहीं भोगता। तात्पर्य यह है कि पूर्व शरीर का त्याग करने के प्रथम समय से ही नवीन बद्ध आयु का उदय हो जाता है।

मगर स्थिति के विषय में यह बात नहीं है। जब जीव नवीन शरीरको धारण करता है। उसमें स्थित हो जाता है तब से स्थिति गिनी जाती है। इस प्रकार आयु और स्थिति में यही एक, दो या तीन समय का अन्तर है। अर्थात् विग्रहगति का काल आयु में सम्मिलित है परन्तु स्थिति में सम्मिलित नहीं है।

हां, तो विग्रहगति की अवस्था में जीव के केवल दो ही प्राण होते हैं—आयुबल प्राण और कायाबल प्राण।

काय के सात योग होते हैं। उनमें सातवाॅ कार्मण काययोग है। यही कार्मणकाययोग और आयुबल प्राण वाटे वहते (विग्रहगति-समापन्न) जीव में होते हैं।

नवीन शरीर धारण कर लेने के पश्चात् एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण होते हैं। उस समय में स्पर्शेन्द्रिय बलप्राण और श्वासोच्छ्वासबल-प्राण बढ़ जाते हैं। द्वीन्द्रिय जीव के रसना और वचनबलप्राण बढ़ जाने से छह प्राण होते हैं त्रीन्द्रिय जीव के घ्राणेन्द्रिय बढ जाने से

सात, चतुरिन्द्रिय के चक्षु बढ़ जाने से आठ असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र बढ़ जाने से नौ और संज्ञी पंचेन्द्रिय के मन बढ जाने से दस प्राण होते हैं।

इस प्रकार 'प्राणि' नाम जब जीव का होता है तो वह सार्थक नाम है।

इतना स्पष्टीकरण करने के पश्चात् भी एक बात साफ नहीं हुई है और वह यह है कि सिद्ध जीवों में 'प्राणी' शब्द की प्रवृत्ति कहाँ तक उपयुक्त है ? बात यह है कि प्राण दो प्रकार के होते हैं— द्रव्यप्राण और भावप्राण। पूर्वोक्त दस प्राण द्रव्यप्राण हैं. भौतिक हैं। पौद्गलिक हैं मन, श्वासोच्छ्वास आदि सभी प्राण पुद्गलों के बने हुए हैं। अस्त्र-शस्त्र द्वारा इनका नाश हो सकता है। ये प्राण अनात्मभावी हैं। सांयोगिक हैं, क्योंकि कर्म के संयोग से जीवात्मा को धारण करने पड़ते हैं। मगर ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, ये चार प्राण भावप्राण हैं। यह आत्मा की निज की वस्तु है। अतएव यह सिद्ध जीवों में भी विद्यमान रहते हैं और इन्हीं के कारण उन्हें प्राणी कहा जाता है।

जीव का एक नाम चेतन भी है और यह भी यथार्थ नाम है। चेतना जिस में हो वह चेतन कहलाता है। चेतना दो प्रकार की है ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना। ज्ञान चेतना आठ प्रकार की और दर्शन चेतना चार प्रकार की है। इन बारह भेदों को उपयोग भी कहते हैं। ज्ञान चेतना में पाँच ज्ञानों और तीन अज्ञानों (मिथ्या ज्ञान) का समावेश है। ठाणांगसूत्र में ज्ञान के आठ भेद बतलाये गये हैं, जिनमें ज्ञान और अज्ञान, दोनों को ग्रहण किया गया है।

संग्रहनय की अपेक्षा आठों को एक रूप में बतलाया गया है,

क्यों कि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा समग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान एक ही है, जिस प्रकार प्रकाश की अपेक्षा दीपक और बिजली का प्रकाश एक है । यद्यपि दोनों में स्पष्टता और अस्पष्टता का भेद है, तथापि प्रकाशत्व सामान्य दोनों में समान है।

ज्ञान और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) दोनों ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपसम या क्षय से उत्पन्न होते हैं। फिर भी उनमें जो भेद है वह मोहनीय कर्म के कारण है, सम्यग्ज्ञानी पुरुष उपादेय को उपादेय और हेय को हेय रूप समझता है, किन्तु अज्ञानी मोह के उदय से उपादेय को हेय और हेय को उपादेय समझता है। यही दोनों की दृष्टि में अन्तर है।

आत्मा का एक नाम 'विन्नू' भी है 'वेयवी' भी उसका एक नाम है। इन दोनों का अर्थ होता है जानने वाला । यह सब पूर्वोक्त उदाहरण यथार्थ नाम के हैं।

जिस नाम का कुछ अर्थ तो हो, मगर वह अर्थ उस नाम वाले मे घटित न हो तो उसे अयथार्थ नाम समझना चाहिए । पहले कहे हुए यथार्थ नाम यदि किसी अन्य वस्तु के रख दिये जाएँ तो वे अयथार्थ नाम हो जाएँगे। उदाहरणार्थ 'जीव' नाम अगर आप किसी जड़ पदार्थ का रख लें तो वही अयथार्थ नाम बन जाएगा। इसी प्रकार किसी साधारण मनुष्य को 'अरिहन्त' संज्ञा दे दी जाय तो वह भी अयथार्थ नाम हो जाएगा।

नाम तो हजारीमल है पर पास में फूटी कौड़ी भी नहीं है। नाम लक्खीमल और करोड़ीमल है परन्तु पास मे कुछ भी नहीं है। अतएव ऐसे व्यक्तियों के यह नाम अयथार्थ नाम हैं। इन नामों से ध्वनित होने वाले अर्थ के साथ इनका कुछ सम्बन्ध नहीं होता।

नाम रक्खा गया है धर्म चन्द्र · मगर धर्म का न तो स्वरूप जानता है, न धर्म का आचरण करता है, बल्कि अधर्म का आचरण करता है नाम है विनयचन्द्र किन्तु अविनय करता है। नाम है शेरसिंह, पर चूहे से भी डरता है। नाम में शेर और सिंह—इस प्रकार दो शेर इकट्ठे हो गये हैं। मगर मन इतना निर्बल है कि चूहे को चाय-चांय से भी भयभीत हो जाता है। कहा है—

नाम दियो लक्ष्मी बाई छाणा वीणे वन मांहि,
राजी बाई नाम राखे थोबड़ो चढ़ायो है।
नाम दियो दया बाई जुआं लीखां मारे नित,
सियाणी बाई नाम जन्म राड़ में गमायो है।
नाम तो जड़ाव बाई पास नहीं तांबे को तार,
रूपा बाई नाम रूप काग से सवायो है।
खूबचंद कहे इन दृष्टान्ते सुजान नर,
गुन बिना नाम कछु काम नहिं आयो है।

एक बाई ने दूसरी बाई से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है? सामने वाली ने उत्तर दिया-नाम तो भगवान् का है, मगर मुझे लक्ष्मी बाई कहते हैं।

सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित स्त्री का नाम लक्ष्मी होना यथार्थ नाम हो सकता है, मगर छाणा बीनने के लिए भटकने वाली का नाम लक्ष्मी बाई हो और दया बाई नाम वाली अड़ौस-पड़ौस की स्त्रियों की जुएं और लीखें बीन-बीन कर मारती हो तथा गर्म गर्म पानी डाल कर खटमलों का खातमा करती हो तो यह नाम यथार्थनाम

नहीं होते। इस स्थिति में यह नाम अयथार्थ हो जाते हैं।

नाम तो है सयानी बाई, किन्तु झगड़े-टंटे कराने में अति निपुण पड़ौसिन के पास जाकर छुरछुरी छोड़ती है—"कल झमकू बाई मेरे यहाँ आई थी। वह तुम्हारे विषय में कुछ अच्छा नहीं बोल रही थी। मुझे तो कुछ सरोकार नहीं है। यों ही तुम्हारे सामने मुँह से निकल गया। ऐसा न हो कि बात वापिस उस तक पहुँच जाय। स्नेह के कारण ही तुम्हे बता दिया है। मैं ऐसी भोली हूँ कि पेट में कोई बात टिक नहीं पाती वास्तव मे मुझसे भूल हो गई। उसके सामने मेरा नाम न लेना।'

सज्जनो! इस प्रकार आपस में भिड़ा देने वाली स्त्रियाँ आग लगाने का काम करती हैं। उसकी इस भिड़ाउ आदत की बदौलत कभी-कभी बड़े-बडे बखेड़े खड़े हो जाते हैं। ऐसी स्त्रियाँ कलह के कँटीले बीज बाती हैं।

उनका मुख काला है जो दूसरों में पारस्पारिक संघर्ष या कलह के बीज बोते हैं। लड़ाई-झगड़ा कर देना सरल है। मगर परस्पर में प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर देना बहुत कठिन है। किसी ने कहा है—

आग लगाना सभी जानते,
बुझाने वाला कोई—कोई।
साँप पकड़ना सभी जानते,
नचाने वाला कोई—कोई।
गाना गाना सभी जानते,
गाना बनाने वाला कोई—कोई।
खाना खाना सभी जानते,

खिलाने वाला कोई—कोई।
मोक्ष मोक्ष तो 'सभी पुकारें,
जाने वाला कोई—कोई।
साधुपना तो सब ही लेवे,
निभाने वाला कोई—कोई।

आग लगाना कठिन नहीं। एक छोटा बच्चा भी यह कार्य कर सकता है। अग्नि का छोटा-सा स्फुलिंग भी बड़े से बड़े मकान को भस्म कर देता है। किन्तु आग बुझाना बहुत कठिन कार्य है। समाज में, संघ में, देश में और विश्व में जो द्वन्द्व चलते हैं, क्लेश होते हैं, परस्परिक मनोमालिन्य होता है, उन्हे दूर करने में बड़ा जोर लगाना पड़ता है। जहाँ आशान्ति की ज्वालाएँ फैल रहीं हों, वहॉ शान्ति स्थापित करने का कार्य कोई विरले पुरुष ही कर सकते हैं। भाई-भाई में, देवरानी-जिठानी में, सास-बहू में, गुरु-शिष्य में, व्यापारी-व्यापारी में, मालिक-मजदूर में, और सरकार तथा प्रजा में जो झगडे हों, उन्हें शान्त करने का कार्य करना चाहिये, क्योंकि छोटा क्लेश भी निमित्त पाकर धीरे-धीरे बड़ा हो जाता है। कभी-कभी छोटा-बड़ा खोटा साबित होता है। नौका का छोटा-सा छिद्र, यदि मूँद न दिया गया तो सारी नौका को और साथ ही नौका-रोहियों के प्राणों का ग्राहक बन जाता है।

क्लेश—नौका छिद्र ज्यों, आरंभ में ही मेट दो,
अन्यथा कुछ ही क्षणों में, सर्वस्व की तुम भेंट दो॥

हम संसारी जन अल्पज्ञ हैं। न मालूम कब पूर्वकृत कर्म उदय में आ जाएँ और छोटे-से निमित्त को पाकर बड़ा रूप धारण कर लें।

अतएव हमें सदैव सावधान रहना चाहिए। कदाचित् घर में झगड़ा हो जाए तो गम खाकर शान्त कर देना चाहिए। ऐसे अवसर पर मौन धारण कर लेना सर्वोत्तम है, क्योंकि अधिकांश झगड़े वचन के कारण होते हैं। कहा है—

वचन-वचन में आंतरा, वचन-वचन में भाव।
एक वचन कारी करे, एक जो घाले घाव॥

एक वचन जले पर नमक का काम करता है और एक वचन घाव भरता है। किसी वचन से दुखी का दुःख बढ़ जाता है और दूसरा वचन दुखी को सान्त्वना पहुँचा कर मरहम पट्टी का काम करता है।

इस प्रकार वचन-वचन में बहुत अन्तर है। वचन से बुझी आग भड़क सकती है और वचन से भड़की हुई आग शान्त भी हो सकती है। वचन से मित्र भी बनते हैं और वचन से शत्रु भी बनते हैं।

एक वस्तु है जिसका वजन दो सेर नहीं, एक सेर भी नहीं, यहाँ तक कि राई भर भी नहीं। फिर भी वह एक आदमी से नहीं उठाई जाती —

सेर नहीं दो सेर नहीं, बोझ नहीं राई।
एक जने से उठी नहीं, दो ने मिल के उठाई॥

(उसका नाम है लड़ाई)

झमको बाई अकेली हो और उसके सामने रमको बाई न हो तो झमको बाई किससे लड़ाई करे? किसके सामने दिल की आग उँड़ेले-गालियाँ दे? किससे भिड़न्त करे? प्रत्युत्तर देने वाला हो तो वाक्कलह को ईंधन मिलता है। फिर बढ़ते-बढ़ते हाथा-पाई होने लगती है।

अभिप्राय यह है कि अगर जीभ पर काबू रक्खा जाय तो तकरार बढ़ नहीं पाती, क्लेश शान्त हो जाता है।

वचन की माया अद्भुत है! उससे कर्मों का बंध भी होता है और निर्जरा भी होती है। व्यर्थ बकवाद करने से कर्म बंध होता है। और स्वाध्याय या प्रभु का नाम उच्चारण करने से निर्जरा-कर्म क्षय होते है।

सज्जनो! हमारी जीवन रूपी नौका में इस प्रकार के छोटे-छोटे छिद्र हो गये हैं, जो उसके पार लगाने में बाधक बन रहे हैं। हम उन की उपेक्षा करते हैं और वही उपेक्षा हमारे लिए घातक सिद्ध होती है। यदि हम जीवन-नौका को प्रभु के प्रति समर्पित कर दें अर्थात् पापमय वचन उच्चारण करना छोड़ कर धर्ममय वचनों का ही उच्चारण करने का स्वभाव बना लें तो बेड़ा पार हो सकता है।

म्हारा जीवणकेरी नाव, त्हारे हाथे सौंपी छे,
चाहे डूबाड़े के तार, त्हारे हाथे सौंपी छे।
एक जो छिद्र पड़े नावमां तो य बूड़ी जाय छे,
अहीं तो घणा रहया छे द्वार, त्हारे हाथे सौंपी छे।

किन्तु प्रभु को जीवन-नौका सौंपते भी हैं तो कब सौंपते हैं? जब नौका डूबने लगती है। पहले तो घरवाली को अपनी जीवन नौका सौपते हैं और उसी को तारनहारी मानते हैं। गुरु को अपना जीवन अर्पण नहीं करते। गुरु पर विश्वास हो तभी अर्पण करे अन्यथा कैसे कर सकता है। मगर याद रक्खो, आपकी जीवन नौका को गुरु ही इष्ट स्थान तक पहुँचा सकते हैं, संसार के साथी नहीं।

हाँ, तो रूपा बाई, राजी बाई, लक्ष्मी बाई आदि नाम जब गुण शून्य व्यक्ति में नियत किये जाते हैं, तब वे अयथार्थ होते हैं। तदनुकूल गुणों के बिना महावीर! पारस, अरिहन्त, जितशत्रु आदि नाम भी अयथार्थ है।

तीसरा नाम अर्थ शून्य नाम है। हँसी, खाँसी, उबासी, छींक आदि के शब्द आभूषणों की टक्कर आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द तथा डित्थ डवित्थ आदि निरर्थक शब्द इस अर्थ शून्य नाम के अन्तर्गत हैं।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यथार्थ नाम और अयथार्थ नाम में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ही सार्थक होते हैं। उनकी योजना में अन्तर पड़ जाता है। जिस नाम से जो गुण ध्वनित होता है, वह गुण यदि नाम वाले व्यक्ति में विद्यमान हो तो नाम यथार्थ बन जाता है परन्तु अर्थ शून्य नाम से किसी भी गुण का बोध नहीं होता।

यह अनुयोगद्वार सूत्र में वर्णित तीन नामों का वर्णन हुआ। इनमें से यथार्थ नाम गुणानुरूप होने से आत्मा के कल्याण का कारण होता है। भगवान् का नाम लेने से भगवान् के गुणों की प्राप्ति होती है, अर्थात् हमारी आत्मा में विद्यमान भागवत गुणों का आविर्भाव होता है।

संस्कृत साहित्य में 'भग' शब्द के अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं, उनमें से यहाँ छह अर्थ ग्रहण किये गये हैं। कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतींगना॥

अर्थात् परिपूर्ण (१) ऐश्वर्य (२) रूप (३) यश (४) श्री ५) धर्म और (६) प्रयत्न, इन छह को 'भग' कहते हैं। यह छहों विशेषताएँ जिसमें पूर्ण रूप से विद्यमान हों, उसे भगवान् कहते हैं। जो वास्तव में भगवान् हैं अर्थात् जिनमें सर्वज्ञता और वीतरागता आ चुकी है, उन में यह छह विशेषताएँ अवश्य होती हैं ' जब भगवान् का

नाम लिया जाता है तो उनकी इन विशिष्टताओं का स्मरण आता है और हमारी आत्मा इन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होती है। फलतः भजन करने वाला भी एक न एक दिन स्वयं भगवान् बन जाता है।

भगवान् के नाम की अचिन्त्य महिमा है। भगवत्-नाम जन्म-जरा-मरण रूपी व्याधियों के लिए अमोघ औषध और रसायन है। न जाने कितने जीव भगवत् नाम की नौका का अवलम्बन लेकर ससार सागर से पार हो चुके हैं। वस्तुतः नाम की महिमा शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। उसका असीम विस्तार है। नाम में सिद्धान्त की सभी बातों का समावेश हो जाता है।

नाम के द्वारा नामी का स्मरण किया जाता है। जब नाम और नामी अर्थात् वाचक और वाच्य में एक रूपता का आभास होता है,तभी नाम स्मरण सजीव और सप्राण बनता है।

आत्मवादी व्यक्ति यथार्थ नाम का स्मरण करता है। वह अरिहन्तों के गुणों का चिन्तन करके अपनी आत्मा में रहे हुए कामक्रोध आदि शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करता है। वही जीवन की सर्वोत्कृष्ट साधना है। इस साधना का जो अभ्यास करते हैं और अरिहन्त भगवान् का निर्मल चित्त से नाम-जप करते हैं, वे भव-समुद्र से पार हो जाते हैं।

राजकोट
१७-७-५४

धर्म का आधार-आत्मवाद

अरिहन्त अरिहन्त, अरिहन्त भगवन्त।

महानुभावो !

प्रत्येक आस्तिक धर्म या सम्प्रदाय आत्मवाद से प्रारंभ होता है। धर्म का मूल आत्मा की विशुद्धि में निहित है। आत्मकल्याण के लिए ही धर्म की स्थापना की जाती है। यह जो व्रत, नियम, सयम, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि साधनाएँ हैं, सब का एक मात्र लक्ष्य आत्मा की मलीनता को दूर करके विशुद्धि प्राप्त करना है।

यही कारण है कि धम संचालकों ने, हमारे पूर्वजों ने, तीर्थंकर केवलियों ने आत्मवाद को प्राथमिकता प्रदान की है। यही विषय सर्व प्रथम जानने योग्य है। आत्मवाद से ही अन्यान्य विषय प्रारभ होते हैं। आत्मवाद ही वह जकशन स्टेशन है जिससे सब गाड़ियाँ चालू होती हैं। यह वह रेडियो स्टेशन है जहाँ से सर्वत्र समाचार प्रसारित होते हैं। रेडियो स्टेशन से ध्वनि प्रसारित की जाती है और वह भारत, इगलैंड, अमेरिका, फ्रास, चीन, जपान, रूस, लंका, जावा, सुमात्रा, अफ्रिका आदि-आदि सभी देशों में फैल जाती है। इसी प्रकार आत्मा ही वह केन्द्र हैजिस के सहारे स्वर्ग, नरक, सुख-दु ख, आदि की विवेचना होती है। जीव के आधार पर ही नौ तत्त्वों की भित्ति खड़ी हुई है।

सारे विश्व का आधार आत्मा है। परमात्मा भी और क्या है? वह भी आत्मा पर आधारित है। महात्मा और परमात्मा का मूलाधार आत्मा ही है। दोनों का मूल द्रव्य आत्मा ही है। आत्मा ही महात्मा और परमात्मा बनता है। आत्मा की ही यह भूमिकाएँ हैं। आत्मा न होता तो महात्मा और परमात्मा कहाँ से बनते? आत्मा का ही उच्चतर रूप महात्मा और उच्चतम रूप परमात्मा हैं। इनमें मूल रूप से आत्मा ही व्याप्त है।

यदि विद्यार्थी न हों तो पुस्तक, स्लेट, कलम, पैंसिल, होल्डर कापी, दवात, शिक्षक, शाला आदि सामग्री का क्या उपयोग है? यह सब साधन छात्र के आश्रित हैं। आत्मा न हो तो चौदह गुणस्थानों की कथा ही समाप्त हो जाए। चौदह गुणस्थान आत्मा के विकास और ह्रास का हिसाब बतलाने वाली भूमिकाएँ हैं। इन भूमिकाओं पर आरूढ होने वाला आत्मा ही है। चौदह गुणस्थानों का निर्माण आत्मा के आधार से है। गुणस्थान आत्मा के क्रमिक विकास को सूचित करते हैं। आत्मा न हो तो मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी कौन हो? कुश्रद्धा, मिथ्यात्व, अंध विश्वास और भ्रान्त धारणाएँ किसमें हैं? आत्मा में। सच्ची श्रद्धा और सच्चे विचार भी आत्मा में हैं कर्मों के आवरण के कारण, मोहनीय के उदय के कारण मिथ्यात्व का अस्तित्व है, मिथ्यात्व को भी गुणस्थान कहा गया है।

शंका हो सकती है कि शास्त्रों में जगह-जगह मिथ्यात्व को अठारह पापों में गिना गया है। फिर यहाँ, उसे गुणों का स्थान कैसे कहा? क्या यह परस्पर विरुद्ध प्ररूपणा नहीं है?

इस शंका का समाधान यह है कि इस प्ररूपणा में परस्पर विरोध नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि जैनदर्शन की पदार्थप्रतिपादन

की शैली ठीक तरह समझ ली जाए । जैनदर्शन अनेकान्त शैली को लेकर चला है। वह किसी भी वस्तु को एकान्त दृष्टि से नहीं देखता । एकान्त दृष्टि अधूरी है, भ्रामक है । इसके द्वारा वस्तु का सही और सर्वांगीण स्वरूप निर्धारित नहीं होता। यदि वस्तु के सही और सम्पूर्ण स्वरूप को समझना है तो उसे अनेक दृष्टिकोणों से समझना होगा।

सम्यक्त्व की अपेक्षा से मिथ्यात्व महादोष-दुर्गुण गिना जाता है। परन्तु जब किसी जड़ पदार्थ की तुलना में उस पर विचार किया जाता है, तब वह गुण रूप गिना जाता है, क्योंकि जड़ में ज्ञान का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार सम्यक्त्व के साथ तुलना करके विवेचन करने से वह दोष रूप त्याज्य गिना जाता है और किसी जड़ पदार्थ के साथ जब उसकी तुलना की जाती है तो वह गुण रूप प्रतीत होता है। जड पदार्थ ज्ञान के सर्वथा अभाव के कारण किंचित् भी बोधरूप नहीं होता, जब कि मिथ्यात्व गुणस्थान वर्त्ती आत्मा जड़ और चेतन का ज्ञान करता है । यह सही है कि उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है, फिर भी अन्ततः है तो वह ज्ञान ही। ज्ञानसामान्य में मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान, दोनों का समावेश होता है। मिथ्यात्वी जीव भी काले को काला, गोरे को गोरा, मनुष्य को मनुष्य और पशु को पशु रूप से जानता है, इन सब पदार्थों को वह अन्यथा रूप में नहीं जानता।

सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के ज्ञान में इतना ही अन्तर है कि सम्यक्त्वी जीव हेय को हेय रूप मे और उपादेय को उपादेय रूप मे जानता और मानता है, जब कि मिथ्यादृष्टि मोहोदय के कारण हेय पदार्थों को भी आत्मा के लिए उपादेय जानता और मानता है। इस प्रकार जानने की शक्ति तो दोनो मे है, फिरभी दोनों की दृष्टि में अन्तर है।

एक वहिर्दृष्टि है जो पुद्गलों को; परपदार्थों को, आत्मा के लिए उपादेय और हितकारी मानता है; दूसरा सम्यग्दृष्टि है जो आत्मभिन्न सभी पदार्थों को त्याज्य मानता है।

जहाँ जीव की शुद्ध परिणति का प्रश्न है, वहाँ मिथ्यात्व गुण रूप नहीं है, फिर भी उसमे चेतना विद्यमान है और वह बाह्य पदार्थों के स्थूल स्वरूप को यथावत् जानता है। उसकी भूल यही है कि वह हेय वस्तुओं को सुख का कारण मानता है। उसमें सुखदुःख का अनुभव करने की शक्ति है, कुश्रद्धा रूप मिथ्यात्व भी है। जड़ पदार्थ में ऐसी शक्ति नहीं होती। उसमें अनुभूति और संवेदना के लिए किंचित् भी अवकाश नहीं है। न उसमें मिथ्यात्व होता है, न सम्यक्त्व ही। यह दोनों गुण आत्मा में ही संभव हैं।

यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए और ध्यान में रखनी चाहिए। मेरा ख्याल है कि मेरी बातें यहीं, इस पौषधशाला तक, याद रहती हैं। बाहर निकलते ही इन्हें विस्मृत कर दिया जाता है। पौषधशाला से बाहर पाँव धरते ही शीतला माता याद आजाती है। बहिनो! त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव भगवान् महावीर की उपासिका हो कर मिथ्यात्वी देव-देवियों की उपासना करना और उन्हें मत्था टेकना कहाँ तक उचित है? देव तो हमारे महावीर हैं और मस्तक नवाएँगे किसी और के सामने! यह कहाँ तक संगत है।

माता तो एक ही होती है जो जन्मदात्री है। वही असली माता है। परन्तु शरीर में एक रोग हो जाता है तो उसे भी लोग मूढ़ता के कारण माता मान लेते हैं। माता ममता की मूर्त्ति, वात्सल्य की वारिधि, स्नेह की अक्षय निधि और दयालुता की दरिया होती है। उसके अन्तःकरण में अपनी सन्तति के लिए अनन्त करुणा का स्रोत बहता रहता है। कहावत है—पूत कपूत हो सकता है पर

माता कुमाता नहीं होती। वह प्रत्येक परिस्थिति में अपनी सन्तान की मंगलकामना ही करती है। क्षण भर के लिए कभी अमंगल नहीं सोच सकती! जो अपनी सन्तान के सुख के लिए अपने समस्त सुखों को तिलांजलि दे सकती है और सन्तान के सुख में ही अपना सुख मानती है, उससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह सन्तान को पीड़ा पहुँचाएगी? दुखी करेगी? अतएव शीतला को बीमारी ही समझना चाहिए, माता नहीं। जो शीतला आँख में निकले तो अंधा बना दे, कान में निकल कर बहरा बना दे और बहुतों के प्राण हरण कर ले उसे माता मानना या कहना मातृजाति का घोर अपमान करना है।

माताओ! आम तौर पर महिलाओं को यह शिकायत रहती है कि पुरुष वर्ग में मातृजाति को समुचित स्थान नहीं दिया, उसकी अवहेलना की, उसके महत्त्व को ठीक तरह नहीं आंका, परन्तु जब आप स्वयं शीतला जैसी पीड़ा दायिनी और विकराल व्याधि को माता कह कर पुकारती हैं तो आप स्वयं अपना अपमान करती हैं। आप माता में निर्दयता का दोषारोपण करती हैं। क्या यह मातृपद को कलंकित करना नहीं है? शास्त्र सुनते-सुनते आप के बाल पक गये। सिर पर सफेदी आ गई। परन्तु अभी तक आपका मिथ्यात्व नहीं छूट सका है!

बहुत-सी बाइयाँ समझती हैं कि जब शीतला निकले तो उसकी चिकित्सा नहीं करानी चाहिए। चिकित्सा कराने से माता कुपित हो जायगी। परन्तु क्या माता ऐसी निर्दय और पाषाण हृदय होती है कि अपने बच्चे का इलाज कराने पर नाराज हो जायगी? जो बच्चे की चिकित्सा से कुपित होती है उसे माता नहीं कह सकते; भले ही वह डाइन हो, पिशाचिनी हो या ऐसी ही कुछ और हो।

तथ्य तो यह है कि शीतला एक बीमारी है। आधुनिक डाक्टरों और वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि यह एक शारीरिक विकार है। जैसे अन्य बीमारियों की चिकित्सा होती है, उसी प्रकार इस बीमारी की भी चिकित्सा होती है।

माता अपने पुत्र को कदापि नहीं मारती। परन्तु यह तो डाकिन से भी बढ़ कर है जो बच्चे के जीवन को ही खत्म कर देती है। अतएव इसे माता मानना और बच्चों की चिकित्सा न कराना बड़ी से बड़ी मूढ़ता है। इससे बड़ी और कोई मूर्खता नहीं हो सकती। इस मूर्खता के कारण न जाने कितने होनहार बालकों को अकाल में ही काल के गाल में समा जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति आने पर माता-पिता छाती कूटते हैं परन्तु अपनी मूढता को नहीं पहचानते! यह भारतीय समाज की कैसी विडम्बना है!

प्रकृति का नियम है कि माता के शरीर से सन्तान उत्पन्न होती है, पर आपकी मानी हुई इस माता का उलटा ही न्याय है! वह संतान के शरीर से पैदा होती है!

वास्तव में यह माता नहीं निकली है परन्तु जन्मदात्री माता की भूल निकली है। जब सन्तान गर्भ में होती है और माता अति उष्ण पदार्थों का सेवन करती है तो उसकी गर्मी गर्भस्थ सन्तान के शरीर में प्रवेश कर जाती है। वही गर्मी शीतला के रूप में, बड़ा होने पर निकलती है। इसी लिए शास्त्रों में बतलाया गया है। कि अमुक स्त्री जब गर्भवती हुई तो उसने गर्भ की रक्षा के लिए अति उष्ण, अति शीतल आदि हानिकर वस्तुओं का खाना-पीना त्याग दिया।

श्रीमद् भगवती सूत्र में गर्भ और गर्भगत बच्चे के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये गये हैं। उनमें एक प्रश्न यह भी है कि जीव जब गर्भ में प्रवेश करता है तब क्या आहार करता है? इसका उत्तर दिया गया

है कि जीव गर्भ में आते ही सर्वप्रथम माता के ओज और पिता के वीर्य का आहार करता है। इस प्रकार रुधिर और वीर्य, जो शरीर में घृणास्पद पदार्थ समझे जाते हैं, इस शरीर रूपी भवन के मूल तत्त्व हैं। इन्हीं के आधार पर शरीर का यह भवन खड़ा हुआ है।

दूसरा प्रश्न किया गया है—क्या गर्भस्थ जीव नीहार-मल-मूत्र का उत्सर्ग करता है? अगर वह मल-मूत्र का त्याग करे तो माता का उदर शौचालय बन जाए। शुक्र-शोणित रूप आहार से शिशु का शरीर बनता है। आँख, कान, नाक, जिह्वा और स्पर्शन रूप पाँचों इन्द्रियों का निर्माण होता है। अगर मल-मूत्र के रूप में, गर्भावस्था में मैटर-तत्त्व निकल जाय तो शरीर एवं इन्द्रियों का निर्माण किससे हो?

तीसरा प्रश्न है—क्या गर्भस्थ जीव कवलाहार करता है? इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं में दिया गया है। एक जीव एक भव-जन्म की अपेक्षा अधिक से अधिक बारह वर्ष तक गर्भ में रह सकता है। और यदि काल करके अन्तर्मुहूर्त्त मे पुनः उसी शरीर में जन्म-ग्रहण कर ले तो फिर बारह वर्ष तक गर्भ में रहता है। इस प्रकार दो भव-जन्म बारह-बारह वर्षों के करने से २४ वर्ष गर्भकाल के हो सकते हैं।

आप सोचते होंगे कि इतने लम्बे समय में तो गर्भ गत जीवका शरीर बहुत बड़ा हो जाना चाहिए! पर ऐसा होता नहीं है। गर्भस्थ जीव जिन पुद्गलों का आहार करता है, वे रसादि रूप मे परिणत होते हैं और शरीर बढ़ता है। परन्तु उस शरीर में से पुद्गल झड़ते जाते हैं। इस कारण उसका शरीर बारह या चौबीस वर्ष तक गर्भ में रहने पर भी अधिक नहीं बढ़ पाता।

गर्भगत जीव हम लोगों की तरह कवल लेकर आहार नहीं करता। माता की रसभरनी नाड़ी और गर्भस्थ शिशु की रसाहरणी

नाड़ी मिली हुई होती है। माता जैसा आहार करती है, पुत्र को वैसा ही रस उस नाड़ी के द्वारा पहुँच जाता है। माता यदि वायुकारक भोजन करती है तो सन्तान को भी वायुवर्धक रस पहुँचता है। उष्ण या शीत आहार करने पर गर्भ को भी वैसा ही सार पहुँचता है।

मगर बारह या चौबीस वर्ष तक वही आत्मा गर्भ में रहती है जो अतिपापी हो। गर्भाशय अत्यन्त अशुचि, नारकीय स्थान है। वहाँ इस जीव को कुछ आराम नहीं मिलता है। उस अत्यन्त घृणित स्थान में जीव को अनेक प्रकार की पीड़ाएँ भुगतनी पड़ती हैं। बड़ा हो जाने पर मनुष्य किसी घृणित वस्तु को देखते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगता है, परन्तु अपनी मूल स्थिति को भूल जाता है। उस समय उसे खयाल नहीं आता कि गर्भावस्था मे वह क्या था ?

श्री भगवती सूत्र में यह प्रश्न भी पूछा गया है कि क्या गर्भस्थ जीव मर कर नरक में जा सकता है ? इसका उत्तरभगवान् ने दिया है कि—हाँ, वह नरकगति में उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् सभी गर्भस्थ जीव नहीं, किन्तु कोई विरला जीव नरक मे भी जाकर उत्पन्न हो सकता है।

कई भोले लोगों का खयाल है कि छोटे बच्चों को पुण्य-पाप का बंध नहीं होता, क्योंकि वे नादान होते हैं और पाप-पुण्य को समझते नहीं हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। संसारी जीव, चाहे वह अज्ञान हो या सज्ञान हो, नादान हो अथवा दाना हो, बालक हो या वृद्ध हो, अपने कृत्य और अध्यवसाय के अनुसार अवश्य पाप-पुण्य का भागी होता है। भगवान् के इस उत्तर से स्पष्ट है कि जब गर्भस्थ शिशु भी नरक में जा सकता है तो बाहर आया हुआ बालक, जो उससे बहुत अधिक उम्र वाला है, पाप-पुण्य

का भागी क्यों न होगा ? उसे अपनी विचारधारणा अर्थात् संकल्पों के अनुसार पाप-पुण्य का भागी होना ही पडेगा।

कौन-सा जीव गर्भ में रहता हुआ नरक में उत्पन्न हो सकता है, यह-जान लेना उचित है। कोई विशिष्ट जीव हो जो राजा का पुत्र हो, संज्ञी पचेन्द्रिय हो, पर्याप्तियाँ पूर्ण कर चुका हो, जिसमें लब्धिवीर्य-शक्ति विशेष हो, पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से जिसे वैक्रिय लब्धि अर्थात् नाना रूप धारण करने की शक्ति प्राप्त हो, वह कदाचित् गर्भ में हो और उसका पिता (राजा) रानी को युद्ध का वृत्तान्त सुना रहा हो, तब वह गर्भस्थ जीव उस वृत्तान्त को ध्यानपूर्वक सुनता है। राजा अपनी रानी से कहता है—शत्रुओं ने राज्य पर आक्रमण कर दिया है, राजधानी को चारों ओर से घेर लिया है। कहीं ऐसा न हो कि हमें पराजय का मुख देखना पड़े और राज्य से हाथ धोना पड़े।

इस प्रकार की बातें वह गर्भस्थ जीव सुनता है और संज्ञी होने के कारण विचार करता है कि—'मैं अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकारी हूँ। यदि इस समय राज्य चला गया तो बड़ा हो कर मैं राज्य से वंचित हो जाऊँगा।'

इस प्रकार विचार कर गर्भगत वह जीव पूर्वकृत पुण्य से प्राप्त वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करके शत्रुसेना के विरुद्ध मानसिक युद्ध करता है। युद्ध के कारण उसके परिणामों में संक्लेश उत्पन्न होता है। उसका मन राज्य में है और उसकी लेश्या तथा अध्यवसाय भी राज्य में आसक्त हैं। कदाचित् ऐसे अवसर पर आयुकर्म का बंध हो जाय तो नरक की आयु का बंध होता है। ऐसा जीव अगर लम्बी आयु बाँध कर न आया हो और गर्भ मे ही, मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो वह नरक में जाएगा।

गर्भगत जीव राज्य का उपभोग नहीं करता, केवल राज्य सम्बन्धी

संकल्प और विचारणा करने के कारण तथा युद्ध सम्बन्धी संक्लेश के कारण नरकायु उपार्जन कर लेता है। वास्तव में कामभोग जीवात्मा को अतिशय दारुण दुःख के दावानल में झुलसाने वाले हैं। कहा है—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दुग्गई ॥

—श्री उत्तराध्ययन

कामभोग शल्य के समान हैं। पैर में चुभा हुआ काँटा जब तक बाहर नहीं निकल जाता, पीड़ा उत्पन्न करता रहता है। वह निरन्तर सालता ही रहता है और क्षण भर के लिए भी शान्ति नहीं अनुभव होने देता। परन्तु काम भोग तो उससे भी अधिक पीड़ा और व्यथा उत्पन्न करते हैं। काँटा जिसे चुभ गया है वह तो कदाचित् शान्ति रख भी ले परन्तु कामी पुरुष शान्ति नहीं रख सकता। काम का वेग उसे बावला बना देता है। जब तक उसकी इच्छापूर्त्ति नहीं हो जाती तब तक वह पागल की तरह इधर-उधर भटकता ही रहता है और हिताहित का भान भूल जाता है। आठ स्थानों मे मन लगने से पुरुष पागल हो जाता है—

काम क्रोध मद आरसी, शिशु तिरिया मद फाग।
होय सयाना बाला, आठ ठौर चित लाग ॥

कामासक्त पुरुष पागल की स्थिति में रहता है। कौवे को रात्रि में नहीं दीखता और घूघू को दिन मे। परन्तु कामान्ध पुरुष न दिन में देख सकता है, न रात्रि में। वह वासना में इतना आसक्त एवं गृद्ध हो जाता है कि स्थान और अस्थान का भी भान भूल जाता है

अरे माता और भगनि तक को भूल जाता है। समय-समय पर खबरें छपती हैं कि मद्यप की तरह कामान्ध पुरुष विवेकशून्य होकर माता-बहिन तक के साथ अनुचित हरकत कर बैठता है।

क्रोधावेश से होने वाली भयंकर घटनाएँ भी जब-तब देखने-सुनने को मिलती हैं। मनुष्य जब क्रोध से पागल हो जाता है तो अपने से बड़े पूज्य पुरुष, गुरु, माता-पिता आदि का खयाल भूल जाता है और उनके साथ दुर्व्यवहार कर बैठता है। कई बार मनुष्य अपने पिता और पुत्र की भी हत्या कर डालता है। अशिष्टता-पूर्ण गालियाँ बकना तो उसके लिए साधारण बात है। क्रोध इतना विकराल नशा है कि मनुष्य को पूरी तरह पागल ही बना छोड़ता है।

मद्यपान करने वाला किस प्रकार पागल हो जाता है और कैसी-कैसी जघन्य करतूतें करता है, यह बात आप सब को मालूम है। आये दिन सड़कों पर पड़े और ठोकरें खाने वाले शराबियों की दुर्दशा किससे छिपी हुई है? शराबी किस प्रकार अपने सारे परिवार को त्रास पहुँचाता है और किस प्रकार अपनी सन्तान के भविष्य को नष्ट करता है, यह कथा ही बड़ी कारुणिक है।

कभी-कभी दर्पण में मुख देखते समय भी मनुष्य पागल जैसी चेष्टाएँ करने लगता है। वह मुँह मटकाता है। भौंहें नचाता है, दांत निकालता है अपने मुख की नाना प्रकार की आकृतियाँ बनाता है, मानो बदर का अनुकरण कर रहा हो।

छोटे बच्चे को खेलाते समय बूढ़े लोग भी अपने बुढ़ापे को भूल जाते हैं और थोड़े समय के लिए उसी बच्चे की बराबरी के बन कर उसी के समान चेष्टाएँ करने लगते हैं। उस समय

वे बाल चेष्टाएँ करते हैं। बच्चे की तोतली बोली बोलते हैं और नाचने-कूदने लगते हैं! कहते हैं—'देख, माँ आ रही है!' और यह कहते हुए यह भी भूल जाते हैं कि बच्चे की माँ आ रही है अथवा खुद की!

स्त्री के गुलामों की बुद्धि भी पागल जैसी हो जाती है। इतिहास साक्षी है कि स्त्री के वशवर्त्ती हो कर पुरुषों ने भयानक से भयानक भूलें कीं, जिनके परिणाम-स्वरूप उनका ऐश्वर्य और जीवन मिट्टी मे मिल गया। यही नहीं, जिस परिवार या देश के साथ उनका सम्बन्ध था, उसे भी दुस्सह क्षति उठानी पड़ी। राजा कूणिक का वृत्तान्त जैनागमों मे प्रसिद्ध है। उसने अपनी रानी पद्मावती के कहने में आकर हार और हाथी के लिए अपने भाइ के साथ और नाना के साथ युद्ध किया। वह युद्ध कोई ऐसा-वैसा साधारण युद्ध नहीं था। उस युग मे, जब कि युद्ध के साधन सीमित थे, शस्त्र-अस्त्र परिमित शक्ति वाले थे और युद्धक्षेत्र भी सीमित ही रहता था, तीन ही दिन के युद्ध मे एक करोड़ अस्सी लाख योद्धाओं का संहार हो गया! कितना घोर अनर्थ! कितना विकराल परिणाम!

अगर कूणिक में अक्ल होती तो वह पद्मावती की बातो में न आता तो देश में जो त्राहि-त्राहि मची, वह न मचती। उसे अपने परिवार के कई सदस्यों की मौत का दु:ख न भोगना पड़ता। मगर वह महिलोपासक था। औरत ने जैसा नचाया वैसा ही नाचा।

सज्जनो! मेरे कहने का आशय यह न समझ लीजिए कि स्त्रियों की नेक सलाह भी न सुनी जाय या न मानी जाय। कोई-कोई बहिनें बहुत विवेकवती होती हैं। समझदार होती हैं। पुरुष की अपेक्षा भी उनकी समझ अच्छी होती है। ऐसी बहिनें अगर गृहस्थी का

संचालन करें तो वह गृहस्थी फलती-फूलती है।

स्त्री, पुरुष की अर्धांगिनी है, शक्ति है। समय पर वह पुरुष को सत्परामर्श देकर विपत्ति से बचा सकती है। महत्त्वपूर्ण कार्यों में, विशेषतया गार्हस्थिक कार्यों में उस की सलाह महत्त्वपूर्ण होती है। पति को पत्नी की और पत्नी को पति की नेक सलाह का आदर करना चाहिए। मगर क्षुद्रता, दुष्टता, ईर्षा, द्वेष आदि दुर्गुणों से प्रेरित हो कर दी गई सलाह को मान्य करना हितावह नहीं है, फिर भले ही वह सलाह स्त्री ने दी हो या पुरुष ने। दोनों को अपना उच्च कर्त्तव्य समझना चाहिए। और किसी को बुरी सलाह नहीं देनी चाहिए स्त्री हो या पुरुष, दोनों का मस्तिष्क और हृदय उदार तथा विशाल होना चाहिए और उसमें उच्च कोटि की मानवता का निवास होना चाहिए। इस प्रकार उदारतापूर्वक जा दम्पती एक दूसरे का सत्परामर्श देते रहते हैं और जो पारस्परिक विचारविमर्श के पश्चात् कार्य करते हैं, उनका गृहस्थी का रथ सदा सत्पथ पर चलता है।

जिस सलाह से देश, समाज, संघ, धर्म, जाति, कुल और परिवार का हित होता है, वह सदैव माननीय है। इसके विपरीत, जिस से अहित की संभावना हो वह ठुकरा देना चाहिए।

तो जो स्त्री के गुलाम हैं और उसकी कही हुई प्रत्येक बात को, बिना सोचे-विचारे, ब्रह्मवाक्य समझ कर शिरोधार्य कर लेते हैं, वे भी पागलों की गिनती में हैं।

मद अर्थात् अभिमान के नशे मे भी मनुष्य पागल हो जाते हैं। वे अपने को दूसरों से बड़ा मानते हैं, दूसरों को तुच्छ समझते है और उनका अपमान करते हैं। वास्तविकता का उन्हे भान नहीं रहता। अभिमान भी मनुष्य का भयंकर शत्रु है। यह विनय गुण का विनाशक

है। जिसमें यह दुर्गुण है वह सद्गुणों की प्राप्ति से वंचित हो जाता है। यही नहीं, उसके विद्यमान सद्गुण भी नष्ट हो जाते हैं। वह दूसरों की दृष्टि में तिरस्कार का पात्र बन जाता है। सर्वत्र घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। उसके जीवन का विकास रुक जाता है।

और जब होली का त्यौहार आता है तब भी मनुष्य पागल बन जाता है। धूल उछालते और रंग डालते समय उसमें एक प्रकार का पागलपन-सा आ जाता है। होली का वातावरण ही कुछ ऐसा मादक होता है कि सयाने और समझदार लोग भी नादान और मतवाले के समान आचरण करने लगते हैं। साधारण दिनों में जो कृत्य और जो व्यवहार अत्यन्त असहनीय समझे जाते हैं, होली के अवसर पर वे मामूली बात बन जाते हैं। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसे आप लोग स्वयं बखूबी समझते हैं।

पूर्वोक्त आठ स्थान ऐसे हैं। जिनके कारण मनुष्य में पागलपन आ जाता है। इनमें से कोई भी एक स्थान समझदार और कुलीन पुरुष को भी पागल बना देता है। यह आठ बातें आत्मा का भान भुला देने वाली हैं। किन्तु जो लोग आत्मवादी हैं, वे हर हालत में अपना विवेक कायम रखते हैं।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि कामभोग शल्य के समान हैं। पैर में लगा काँटा व्यथा उत्पन्न करता है, परन्तु काम वासना की बदौलत जो व्यथाएँ होती हैं, उनकी तुलना में कण्टक जन्य व्यथा नगण्य है।

शास्त्र स्पष्ट घोषणा करता है कि यह कामभोग केवल शल्य के ही समान नहीं हैं, वरन् विष के समान भी हैं। विष के सेवन से असह्य दाह उत्पन्न होता है, मनुष्य बेभान हो जाता है और अन्त में प्राण त्याग देता है। यही सब परिणाम कामभोग के भी होते हैं। कामी

और भोगी पुरुष के अन्त-करण में सदैव वासना की लपटें उठती रहती हैं और उनसे वह दुस्सह संताप का अनुभव करता है। पल भर को भी शान्ति नहीं पाता। वह हिताहित का विचार करने में सर्वथा असमर्थ बन जाता है और अन्ततः कामभोग उसके जीवन की शीघ्र ही बलि ले लेते हैं।

यह कामभोग भयंकर विषधर के समान हैं। सर्प जिसे डस लेता है, उसका एक ही जीवन नष्ट होता है, परन्तु भोग रूपी भुजंगम के द्वारा डंकित पुरुष के न जाने कितने जीवन नष्ट और बर्बाद हो जाते हैं। अतएव कामभोग सर्प से भी अधिक भयानक हैं।

पूर्वोक्त गाथा में कामभोगों को शल्य, विष और सर्प के जो रूपक प्रदान किये गये हैं, वह इस तथ्य को सूचित करते हैं कि इनकी भयंकरता अत्याधिक है। शल्य, विष और विषधर-तीनों मिल कर जो अनर्थ उत्पन्न कर सकते हैं, कामभोग उससे भी अधिक अनर्थ कारी हैं।

कामभोगों की भीषणता दिखलाने के लिए सूत्रकार ने उपर कही गई गाथा के उत्तरार्थ में कहा है—

कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गइं।

अर्थात् शल्य जब शरीर में चुभता है तभी वेदना उत्पन्न करता है, विष शरीर में पहुँच कर ही हानि करता है और विषधर सर्प का भी जब शरीर के साथ सम्पर्क होता है तभी व्यथा होती है, मगर इन कामभोगों की बात निराली है। इनका कुप्रभाव अनूठा है। कामभोग प्राप्त न हों, उनका संसर्ग न हुआ हो, सिर्फ उनकी अभिलाषा मात्र की गई हो तो भी वे जीव को दुर्गति का पात्र बना देते हैं। जिनकी अभिलाषा ही दुर्गति में पहुँचाने के लिए पर्याप्त है, उनका सेवन क्या-क्या अनर्थ उत्पन्न न करेगा।

गर्भगत जीव बेचारा कामना और आसक्ति के कारण ही नरक का पात्र बनता है। वह राज्य का भोग नहीं करता, फिर भी अभिलाषा मात्र से उसे दुर्गति प्राप्त होती है।

यह न समझिए कि गर्भगत जीव नरक का ही अधिकारी हो सकता है और स्वर्ग नहीं पा सकता। यदि उसकी विचार धारा अच्छी दिशा मे प्रवाहित हो जाती है तो उसे स्वर्ग की भी प्राप्ति हो सकती है।

गर्भगत जीव की माता जब तीर्थंकर भगवान् के समव-सरण में जाती है और आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति एवं उल्लास के साथ प्रभु का धर्मोपदेश श्रवण करती है, अथवा किन्हीं महा मुनिराज या महासती की सेवा में उपस्थित होकर शास्त्र श्रवण करती है, तब गर्भगत जीव त्याग-वैराग्य की बातें सुनकर सोचता है कि मैं भी बड़ा होकर निर्ग्रन्थ मुनि बनूँगा और जिनेन्द्र प्ररूपित इस उत्तम धर्म का आराधन करूँगा। ऐसा शुभ संकल्प करते समय यदि आयुष्य का बंध हो जाय तो देवायु का बंध होता है। आयु पूर्णकरके वह जीव यदि गर्भावस्था में ही मरणशरण हो जाय तो उसे स्वर्ग प्राप्त होता है।

सज्जनो ! जब गर्भगत जीव भी शुभ संकल्प से स्वर्ग में जा सकता है तो जो श्रावक या श्राविकाएँ दान दें, शील पालें, तपस्या करें और शुभ भावनाएँ भावें, उनके स्वर्ग में जाने मे क्या सन्देह है ?

श्री भगवती सूत्र में प्रश्न किया गया है कि एकान्त पडित मरण से मरने वाला साधु कहाँ उत्पन्न होता है ?

उत्तर दिया गया है कि वह या तो मोक्ष की प्राप्ति करके सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो जाता है अथवा वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बाल पण्डित मरण से मरने वाला श्रावक भी वैमानिक देव

होता है। वह शेष तीन गतियों में उत्पन्न नहीं होता। मगर बाल मरण से मरने वाले के लिए चारों गतियों का रास्ता खुला है। वह किसी भी गति में जा सकता है।

माता की क्रियाओं के अनुसार ही गर्भगत जीव की क्रियाएँ होती हैं। माता दुःख का अनुभव करती है तो वह भी दुखी होता है। माता को सुखानुभूति होती है तो उसे भी होती है। माता बैठती है तो वह भी बैठता है और माता खड़ी होती है तो वह भी खड़ा होता है इसी कारण गर्भिणी स्त्री को सदा सावधान रहने की आवश्यकता होती है। उसे चिन्ता, शोक, सन्ताप, अशुभ संकल्प आदि से बचना चाहिए और सदैव धार्मिक विचारों में रमण करना चाहिए। जो गर्भवती माता दुष्ट विचारों से दूर रहेगी उसकी सन्तान भी सुविचारवान् और धर्म निष्ठ होगी।

गर्भगत जीव के विषय में अभी जो कहा गया है, उस पर यह आशंका की जा सकती है कि गर्भगत जीव नरक और स्वर्ग में जाने योग्य क्रियाएँ कैसे कर सकता है? इसका उत्तर संक्षेप में यही दिया जा सकता है कि महाभारत में अभिमन्यु का उदाहरण प्रसिद्ध है। उससे इस शंका का समाधान किया जासकता है। अभिमन्यु ने गर्भ में रहते हुए ही चक्रव्यूह को भेदन करने की विधि अपने पिता के कहने के अनुसार सीखी थी। जब वह बड़ा हुआ और महाभारत संग्राम में सम्मिलित हुआ तो उसी गर्भावस्था में सीखी हुई विधि के अनुसार उसने चक्रव्यूह का भेदन किया। वह उस व्यूह में से निकलने की बात नहीं सुन सका था। अतएव निकल नहीं सका।

इस वृत्तान्त से भलीभाँती स्पष्ट है कि गर्भगत जीव में भी पर्याप्त बोध होता है। माता-पिता के वार्तालाप का, माता के विचार और व्यवहार का उस पर गहरा असर पड़ता है। गर्भ में ही उसके

व्यक्तित्व का और उसके भविष्यजीवन का निर्माण आरंभ हो जाता है। अतएव माता पर बड़ा उत्तरदायित्व है। केवल शिशु को जन्म देकर संतानवती कहलाने का गौरव पा लेना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् मातृत्व की सफलता के लिए शिशु को सुसंस्कारों का बनाना भी आवश्यक है। बालक में सुसंस्कारों का बीजारोपण गर्भावस्था में ही प्रारंभ हो जाना चाहिए और इसके लिए आवश्यकता है स्वयं के चित को निर्मल, पवित्र और उज्जवल बनाने की। यदि माता के विचार कलुषित होंगे और पापमय होंगे तो बालक पर उनका अनिवार्य प्रभाव पड़ेगा ही। वह प्रभाव आगे चल कर उसका स्वभाव बन जाएगा और बहुत बहुत यत्न करने पर भी उसका दूर होना कठिन होगा। अतएव बच्चे का अगर भला चाहते हो और उसे सत्पुरुष के रूप मे देखना चाहते हो तो स्वयं दुर्व्यवहार से बचो। इस संबंध में सर्व प्रथम ध्यान देने की बात यह है कि कम से कम बालक के सामने माता-पिता आदि बड़ों को कोई अनुचित उच्चारण या आचरण नहीं करना चाहिए। आप को विदित होगा कि बालक अतिशय अनुकरण शील होता है। अनुकरण के द्वारा ही उसके ज्ञान के भंडार का अधिक भाग परिपूर्ण होता है। बड़ों की बोली और चेष्टा को देख सुन कर ही बोलना और करना सीखता है। आप जैसा व्यवहार करेंगे वैसा ही व्यवहार करना बालक सीख लेगा।

अगर आप समझते हैं कि हम चाहे जैसा व्यवहार करें मगर उपदेश दे कर बालक को बुराई से बचा लेंगे तो यह आपका बड़ा भ्रम है। यदि आपका करना कुछ और कहना कुछ होगा जब यह दोनों परस्पर विरोधी बातें बालक के सामने आएँगी तो उस पर यही प्रभाव पड़ेगा कि कहना तो ऐसा चाहिए परन्तु करना ऐसा चाहिए। इस प्रकार उसके जीवन में मायाचार का प्रवेश हो जाएगा। उसकी

कथनी और करनी में विरूपता होगी। यह जीवन की बर्बादी का कारण होगा। अतएव अगर बालक के जीवन को सुसंस्कारमय बनाना चाहते हो तो छोटे से छोटे बच्चे के सामने भी किसी प्रकार की अनुचित चेष्टा न करो और न अपशब्दों का ही प्रयोग करो। यों तो अपने जीवन को सुधारने की दृष्टि से कभी भी इन बुराइयों को स्थान न देना चाहिए, परन्तु बालक के जीवन निर्माण के लिए कम से कम उसके समक्ष तो इनसे बचना ही चाहिए।

स्मरण रखिए, माता-पिता केवल बालक के शरीर के ही निर्माता नहीं हैं, वरन् विचारों के भी निर्माता हैं और समग्र जीवन के निर्माता हैं। ऐसा समझ कर आप को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

पजाब की घटना है। एक कसाई अपने छोटे बच्चे के सामने बकरों को छुरी से कत्ल कर दिया करता था। उस बच्चे की उम्र लगभग चार-पाँच वर्ष की थी। उस कसाई का एक और बच्चा था जो पालने में झूलता था। पहला बच्चा सदा अपने बाप का कृत्य देखता था था। एक बार उसके मन में अनुकरण करने की भावना उत्पन्न हुई और उसने पालने में झूलते हुए नादान बच्चे की गर्दन पर वही छुरी चला दी। इस प्रकार पिता की क्रिया का उस बालक के दिल पर असर हुआ और उसने नकल कर डाली। कसाई को बाद में अपनी भूल का पता लगा, पर बहुत हानि उठाने के पश्चात्। वह ऐसी हानि थी कि उस की पूर्ति होना सभव न था, अतएव वह हाथ मलता ही रह गया।

तात्पर्य यह है कि अगर आप सदाचार और सद्-विचार से सम्पन्न हैं और बालक के समक्ष विवेकपूर्ण व्यवहार करते हैं तो अपने बालक के जीवन को उन्नत बना सकते हैं। ऐसा करके आप उसका हित तो करेंगे ही, अपने सुख का भी सामान जुटा लेंगे। यही नहीं, समाज और राष्ट्र को एक आदर्श सदस्य देकर आप समाज और राष्ट्र

का भी हित करेंगे।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि आहार, नरक, स्वर्ग, कामेच्छा, भोगेच्छा, धर्मेच्छा, सुसस्कार और कुसंस्कार आदि का सम्बन्ध आत्मा के साथ ही है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का सम्बन्ध भी आत्मा से ही है। जड़ पदार्थ में यह सब वृत्तियाँ नहीं होतीं॥ कुछ समझे ?

(श्रावकों ने कहा—जी हाँ, समझ गये।)

एक गुरु जी की आदत थी कि वे जब प्रवचन करते तो बीच-बीच में श्रोताओं से पूछते रहते—समझे ? कुछ समझे ? श्रोता भी 'तहत महाराज, समझ गये' कह दिया करते थे। यह वक्ता और श्रोता की नित्य की टेव थी। प्रतिदिन वही प्रश्न और वही बँधा-बँधाया उत्तर !

एक दिन एक चतुर भक्त भी प्रवचन सुन रहा था। गुरु जी ने सदा की आदत के अनुसार प्रश्न किया—समझे ?

वह भक्त बोला—नहीं समझे। महाराज ! अगर हम समझ गये होते तो ससार-सागर में क्यों गोते खाते ? पापों के पंक से क्यों लिप्त होते ? हम सब तो 'तहत प्रमाण' कहने वाले हैं, केवल जीभ हिलाना जानते हैं। अगर समझ गये होते तो जड़ को भगवान् न मानते, शीतला को माता न समझते।

असल में समझा वही है जो वीतराग को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और दयामय धर्म को धर्म मानता है। चतुर्थ गुणस्थान वाला जीव भी समझा हुआ माना जाता है। श्रावक को तो पंचम गुणस्थान माना गया है। चौथे गुणस्थान वाले की दृष्टि में भी अन्तर नहीं होता। उसकी श्रद्धा वही होती है जैसी तेरहवें गुणस्थान वाले की। चतुर्थ गुणस्थान वर्त्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की समझ सत्य ही होती है, सिर्फ आचरण की कमजोरी के कारण वह व्रतों का आंशिक रूप से भी पालन

नहीं कर पाता।

तो मिथ्यात्व भी जड़ पदारथ की तुलना में गुण है। मिथ्यात्व आत्मा का बोधक है। वह प्राथमिक भूमिका है। अचेतन पदार्थों को तो प्रथम गुणस्थान की भी प्राप्ति नहीं होती।

इसके अतिरिक्त प्रथम गुणस्थान के भी असंख्यात स्थान हैं। पूर्व-पूर्व की अपेक्षा आगे-आगे के स्थान उत्तरोत्तर शुद्ध हैं। इस दृष्टि से भी मिथ्यात्व को गुणस्थान कहने में बाधा नहीं।

जैसे ज्ञान सामान्य में मिथ्या ज्ञान और सम्यग्ज्ञान-दोनों का समावेश होता है। उसी प्रकार गुण सामान्य में दुर्गुण और सद्गुण का समावेश है। मिथ्यात्व दुर्गुण होने के कारण सामान्यतः गुण ही है।

तो अभिप्राय यह है कि चेतन सम्बन्धी समस्त वृत्तियाँ आत्मा पर ही आश्रित हैं। विश्व मे जो चमत्कार और चेतना है, आत्मा का ही खेल है। इसी कारण विश्व के समस्त दार्शनीक आत्मवाद को पहला स्थान देते है। उसे समझना चाहिए, इसी में आपका कल्याण है।

राजकोट
२७-७-५४

आत्मवाद

अरिहन्त अरिहन्त० ।

महानुभावो ! तथा बहिनो !

प्रवचन का विषय आत्मवाद है। इस विषय में पहले भी कहा जा चुका है। आज भी इसी विषय पर कुछ विचार करना है, क्योंकि आत्मा ही धर्म, संस्कृति एवं अध्यात्म आदि समस्त विषयों का केन्द्र है, मूलाधार है। आत्मा को स्वीकार कर लेने पर ही अन्य सब विषय स्वीकार किये जाते हैं। अगर आत्मा की सत्ता स्वीकार न की जाय तो क्या शेष रह जाता है! धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, संयम, नियम, तपश्चर्या, साधना आदि का मूल प्राण आत्मा ही है। आत्मा का विचार है तो इन सब विषयों का भी विचार है और यदि आत्मा का ही अस्तित्व न माना जाय तो फिर अन्य विषयों के विचार का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। बिना नींव की इमारत खड़ी नहीं हो सकती। आखिर जगत् में जो विभिन्न धर्म हैं, उनका स्वरूप चाहे जो हो और चाहे जैसा हो, मगर उद्देश्य तो आत्मा की उन्नति और विशुद्धि करना ही है।

समस्त धर्म आत्मा को ही मूल तत्त्व मान कर उसी की पहचान और खोज के लिये चले हैं। किसी भी धर्मशास्त्र को देखिए, उसका प्रधान स्वर यही है कि आत्मा को पहचानो, समझो। जैनाचार्य कहते हैं—

विसृज विसृज मोहं, विद्धि विद्धि स्वतत्त्वं।

अर्थात् हे जीव ! तू मोह-अज्ञान का त्याग कर और आत्मतत्त्व को समझ, समझ !

वैदिक धर्म के आचार्य भी इसी बात पर सब से अधिक जोर देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

आत्मा रे अयमनुमन्तव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः

वे कहते हैं—अरे संसार के जीवो ! आत्मा के विषय में ही मनन करना चाहिए, आत्मा के सम्बन्ध में ही सुनना चाहिए और विचार करना चाहिए।

जैनागम श्री आचारांग सूत्र में एक अत्यन्त भावपूर्ण उद्‌गार हमें मिलता है—

जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।

अर्थात् जो एक तत्व को जान लेता है वह सभी कुछ जान लेता है।

वास्तव में यह सूत्र गंभीर अर्थ को ध्वनित करता है। जो आत्मा को नहीं जानता वह कुछ भी नहीं जानता और जो आत्मा को जान लेता है वह सभी कुछ जान लेता है। फिर उसे कुछ भी जानने योग्य नहीं रहता।

नौ तत्त्वों में सर्वप्रथम जीव की गणना की गई है। इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य को सर्वप्रथम आत्मा का बोध प्राप्त करना चाहिए। आत्मा के स्वरूप का बोध प्राप्त होने पर सहज ही यह प्रश्न हमारे सामने आ खड़ा होगा कि अगर आत्मा शुद्ध, बुद्ध, चिदानन्दमय है तो आज उसके स्वरूप में विकृति क्यों आ गई है ? आज वह अपने असली रूप में क्यों नहीं दृष्टिगोचर होता ?

यह प्रश्न उपस्थित होने पर हमें सोचना ही पड़ेगा कि जगत् में आत्मा के साथ संघर्ष करने वाला और उसके स्वरूप में विकृति उत्पन्न करने वाला दूसरा कोई तत्त्व अवश्य है। वह तत्त्व जीव विरोधी अर्थात् अजीव है।

मान लिया कि संसार में जीव और अजीव, इस प्रकार दो तत्त्व हैं। किन्तु यदि दोनों पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित हैं तो उनमें संघर्ष का क्या कारण हो सकता है? इस प्रकार के प्रश्न में से आश्रव और बन्ध तत्त्व की उपलब्धि होती है। अगर यह दो चीजें न होती तो अजीव (कर्म) की सत्ता होने पर भी आत्मा में कोई विकार उत्पन्न न होता। वास्तव मे आश्रव और बंध के कारण ही आत्मा में विकृति आती है।

दूध अलग है और पानी अलग पड़ा है। ऐसी। स्थिति में दोनों की विद्यमानता होने पर भी उनमें कोई विकृति नहीं आती। परन्तु जब दोनों का मेल होता है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो दोनों ही अपने-अपने मूल स्वरूप का परित्याग करके रूपान्तर को ग्रहण करते हैं। यही रुपान्तर उनका विकार है। इसी प्रकार जीव और अजीव (कर्म) के संबध के कारण दोनों का अपना-अपना शुद्ध स्वरूप तिरोहित हो रहा है और दोनो में विकार उत्पन्न हो गया है। इस पारस्परिक सवंध का कारण जो है उसी को जैन शास्त्रों में आश्रव और बंध कहा गया है। वह शुभाशुभ रूप होने से पुण्य-पाप रूप दो प्रकार का कहलाता है।

जब हम आश्रव और बन्ध के स्वरूप को समझ लेते हैं तो स्वतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आत्मा में परनिमित्त से उत्पन्न हुई अशुद्धि दूर हो सकती है अथवा नहीं? अगर दूर हो सकती है तो उसका उपाय क्या है? किन साधनों से हम आत्मा की विकृति

को दूर कर सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में संवर और निर्जरा तत्त्व निहित है? अर्थात् जब हम आश्रव और बन्ध के कारण आत्मा में उत्पन्न होने वाली विकृति को स्वीकार कर लेते हैं तो उसे दूर करने के साधनों को भी तलाश करते हैं। उस तलाश से हमें संवर और निर्जरा का पता चलता है। आत्मविरोधी तत्त्व का आत्मा के साथ संबंध न होने देना और जिसका संबंध पहले हो चुका है, उसे नष्ट कर देना ही आत्मशुद्धि का उपाय है। इसी को जैनशास्त्र संवर और निर्जरा कहते हैं।

नवीन विकारों के आगमन को रोक देना संवर है और पूर्वसंचित विकारों को थोडा-थोडा क्षीण करते चलना निर्जरा है। इन दोनों पद्धतियों के फलस्वरूप एक समय ऐसी। स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि आत्मा अपने विरोधी तत्त्व के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाती है और अपने असली स्वरूप में आ जाती है। इस अवस्था को मोक्ष कहा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा के विचार में से ही नौ तत्त्व फलित होते हैं। उनका मूलाधार आत्मतत्त्व ही है। अगर आत्मा को न स्वीकार किया जाय तो उसके विरोधी अजीवतत्त्व के विषय में कोई प्रश्न ही पैदा न होगा और न उसकी विकृति तथा विशुद्धि की समस्या हमारे सामने खडी होगी। इस प्रकार सभी तत्त्व शून्य में विलीन हो जाएँगे।

आशय यह है कि आत्मा को स्वीकार किये बिना धर्म के क्षेत्र में एक भी कदम आगे नहीं बढ़ा जा सकता। अतएव सर्वप्रथम आत्मा को ही समझने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष में ऐसी विचारधाराएँ भी उत्पन्न हुई हैं जिनमें आत्मा के सिवाय अन्य किसी भी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं की

गई। वेदान्त की विचारधारा इसी प्रकार की है। उसमें माना जाता है कि यह विशाल जगत् एक मात्र आत्मा का ही प्रपंच है, फैलाव है। हमें जो विविध नाम और रूप वाले पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे सब आत्मा के ही रूप हैं—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।

और —

सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या।

यह उद्गार आत्माद्वैत के प्रकाशक हैं। यह बात अलग है कि इस विचार में कहाँ तक सत्यता है या नहीं है; यह भी ठीक है कि हम इससे सहमत नहीं हैं, तथापि इस विचारधारा का उल्लेख यह दिखलाने के लिए किया गया है कि भारत में आत्मा को कितना महत्त्व दिया गया है! इस देश के मनीषियों ने अपनी समग्र विचारधारा का आधार आत्मा ही माना है। इसी को मूल तत्त्व मान कर वे आगे चले हैं। उनमें से बहुत-से ऐसे भी रहे हैं जिन्हें यह सारा विराट् विश्व आत्मा के रूप में ही दिखलाई दिया है।

जिन प्रवचन का प्रारंभ किससे हुआ है? आप को भली भाँति विदित है कि जैन साहित्य का मूल द्वादशांगी है। बारह अगों के आधार पर ही अन्य अनेक आगमों एवं विविध विषयों के ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। उन बारह अंगों में भी प्रथम अंग आचारांग है। उसके प्रथम-प्रथम श्रुतस्कंध के, प्रथम अध्ययन के, प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र को देखिए। वहाँ कहा गया है—संसार के किसी-किसी जीव को ऐसा ज्ञान नहीं होता कि मैं कहाँ से आया हूँ? किस दिशा या विदिशा से आया हूँ? यहाँ से कहाँ जाऊँगा? मेरी आत्मा एक भव से दूसरे भव में गमन करने वाली है या नहीं? किन्तु जो

आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्त्व को जानता और मानता है, जो पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, वही वास्तव में आत्मवादी है, वही लोकवादी है, वही क्रिया वादी है और वही कर्मवादी है।

इस प्रकार भगवान् महावीर के प्रवचन का प्रारंभ भी आत्मवाद से ही हुआ है। तथ्य यह है कि दुनिया का कोई भी धर्म क्यों न हो, यदि वह आत्मा को सामने रख कर विचार नहीं करता तो एक भी डग आगे नहीं चल सकता।

आप भारत वर्ष के इतिहास की ओर दृष्टि दौड़ाएँगे तो पता चलेगा कि यह महान् देश अत्यन्त प्राचीन काल से आत्मा की ही खोज में लगा रहा है। इसका प्रधान और एक मात्र परमपुरुषार्थ आत्मा की उपलब्धि करना ही है। भारत के स्वर में आत्मा की ही गूँज है। भारत का चिन्तन और मनन आत्मा से ही ओतप्रोत है। उसकी समस्त जीवन पद्धतियों में आत्मा का ही लक्ष्य है। आत्मवाद ही भारत का सर्वस्व है। उसकी श्रेष्ठ शक्तियाँ आत्मा के अन्वेषण, विवेचन और उपलंभ में ही व्याप्त रही हैं। संसार में ऐसा कोई देश नहीं जिसने आत्मा के विषय में इतना गहरा और सूक्ष्म विचार किया हो।

इस देश में बड़े-बड़े सम्राट् हुए, चक्रवर्त्ती राजा हुए। उन्हें सांसारिक वैभव की सर्वोत्कृष्ट मात्रा प्राप्त थी। किसी प्रकार की कमी नहीं थी। जागतिक विभूति उनके चरण चूमती थी। ऐश्वर्य का अपार सागर उनके चारों ओर उमड़ा रहता था। मगर वह उन्हे शान्ति प्रदान न कर सका, उससे वे वास्तविक सुख उपलब्ध न कर सके। उनका अन्तःकरण किसी दूसरे सुख के लिए छटपटाता रहा। अन्त में जब उन्हें कोई आत्मनिष्ठ महात्मा मिले और उन्होंने बतलाया कि— अरे भव्य तू किस मृगतृष्णा के पीछे भटक रहा है! संसार के पदार्थ तो

केवल पीड़ा प्रदान कर सकते हैं, सन्तुष्टि उत्पन्न करना उनका स्वभाव ही नहीं है। जैसे आग से शीतलता नहीं मिल सकती और नीम से माधुर्य नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी प्रकार संसार के विषय भोगों से तृप्ति और शान्ति नहीं मिल सकती। पर पदार्थ संयोग और वियोग, दोनों अवस्थाओं में आत्मा के प्रतिकूल हैं। संयोग के समय राग और उन्माद उत्पन्न करके निज-स्वरूप को विस्मृत कराते हैं और वियोग के समय दुःख, शोक, संताप और व्याकुलता उत्पन्न करके आत्मा के निरा-कुल भाव का नाश करते हैं। अतएव उनका सम्पर्क हर हालत में हानिकर है।

आत्मभिन्न परपदार्थ जड़ हैं और जड़ पदार्थ सुख स्वरूप नहीं हैं। जब वे सुख स्वरूप नहीं हैं तो उन से सुख पाने की इच्छा करना वालू पेल कर तेल पाने की इच्छा के समान निष्फल प्रयास है। अतएव अगर सचमुच ही तेरे चित्त में निराकुलता का उपभोग करने की अभिलाषा जागृत हुई है और तू वास्तविक सुख पाने का इच्छुक है तो तुझे सुख के अक्षय भंडार को प्राप्त करना चाहिए। सुख का भंडार कहीं बाहर नहीं है, दूर नहीं है, उसे पाने के लिए किसी तीर्थधाम, वन, पर्वत, पहाड़ या गिरिगुहा में जाने की अवश्यकता नहीं है। वह तो तुझमें निज में ही भरा पड़ा है।

जैसे कस्तूरीमृग कस्तूरी की सुगन्ध से आकृष्ट हो कर इधर-उधर भागता फिरता है और अज्ञान के कारण वेचारा नहीं जानता कि कस्तूरी मेरे ही भीतर विद्यमान है, उसी प्रकार संसार के अज्ञात प्राणी सुख की खोज के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, कभी धन से, कभी सत्ता से और कभी पत्नी आदि से सुख पाने की वाञ्छा करते हैं, मगर अन्त में उन्हें निराश ही होना पड़ता है; क्योंकि सुख उनके ही भीतर है और वे उसे बाहर खोजते हैं। आत्मा अनन्त आनन्द का

अक्षय आगार है। अतएव आनन्द की प्राप्ति आत्मतत्त्व की उपलब्धि में ही है। मगर आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए अनात्मिक पदार्थों के संसर्ग का त्याग करना पड़ता है। जब तक जगत् के जंजाल को त्याग कर कोई आत्मोन्मुख नहीं होता, तब तक उसे आत्मिक सुख की निधि प्राप्त नहीं हो सकती।

इस प्रकार ज्ञानियों की राह आपकी राह से बिलकुल विपरीत दिशा में है। आप की धारणा है कि सांसारिक पदार्थों का जितना-जितना संयोग बढ़ता चला जायगा, उतना ही उतना सुख भी बढ़ता जायगा। एक लाख के बदले पाँच लाख मिल गये तो सुख भी पाँच गुना हो जायेगा। एक हवेली की जगह दो हवेलियाँ हो जाय तो सुख दुगुना हो जाय। मगर आपकी इस धारणा से ज्ञानियों की विचारणा बिलकुल विपरीत है। उनकी स्पष्ट घोषणा है—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा

ज्ञानियों ने यह घोषणा दीर्घकालीन अनुभव के पश्चात् की है। अतएव इसमें जीवन का ठोस सत्य समाया हुआ है। यह किसी राहगीर की वाणी नहीं है यह वाणी अलौकिक ज्ञान से प्रसूत हुई है। इस की घोषणा में जीव के दुःखों की कहानी बोल रही है।

यह तो आप सब मानते हैं कि संसार दुःखमय है। परन्तु असली सवाल यह है कि यह दुःख आया कहाँ से है? दुःख का मूल स्रोत कहाँ है? जब तक दुःखों के कारण का सही ज्ञान न हो जाय तब तक उससे बचाव का उपाय नहीं किया जा सकता। अतएव दुःखों से जो निवृत्त होना चाहते है, उन्हें सर्वप्रथम दुःखों के कारण की खोज करनी होगी ज्ञानी महापुरुषों ने वह खोज की है और उसका ही अन्तिम परिणाम इस वाक्य में प्रकट किया गया है।

तो ज्ञानियों ने दुःख के कारणों की तलाश करते-करते यह नतीजा निकाला है कि—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अर्थात्—इस जीव को लगातार जो दुःखों का सामना करना पड़ रहा है, उसका कारण परपदार्थों का संयोग ही है।

अब आप सोच सकते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी की विचार धाराओं में कितना अन्तर है? एक पूर्व की ओर तो दूसरी पश्चिम की ओर जा रही है। आप पर पदार्थों को सुख का मूल समझ रहे हैं और ज्ञानी जन उन्हें दुःखों का मूल कह रहे हैं।

इससे आप समझ सकेंगे कि निरन्तर प्रयास करने पर भी आप के दुःखों का अन्त क्यों नहीं आ रहा है? आपको सुख की प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है? जब तक आप सुख की अभिलाषा करके भी दुःख के मार्ग पर चलते रहेंगे और दुःख के कारणों को सुख का साधन समझते रहेंगे, तब तक आपको सच्चा सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

अगर आप सचमुच सुख चाहते हैं तो सुख की कुञ्जी आपके हाथ में है। आपको ज्ञानियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना होगा। अपनी विपरीत धारणा का त्याग करना होगा। परपदार्थों के सयोग को सुख के बदले दुःख का कारण मान कर उसका त्याग करना होगा। आत्मवाद की ओर चित्त एकाग्र करना होगा। इसी से आपको सच्चा सुख मिलेगा। अगर संसार की सुखसामग्री में वास्तविक सुख होता तो चक्रवर्त्ती उसका त्याग करके आत्मा की खोज में क्यों लगते?

यही आत्मवाद की शिक्षा है। आत्मवाद का प्रधान संदेश यही है कि आत्मा ही सुख का केन्द्र है। अतएव सुख की तलाश करना है तो अपनी बहिर्मुख दृष्टि को अन्तर्मुख बनाओ।

आत्मा सत्-चित्-आनन्दमय है और प्रत्येक आत्मा का यही स्वरूप है। सब आत्माएँ आत्मभाव से समान हैं। सब असंख्यात प्रदेशात्मक हैं। उनके प्रदेशों में तनिक भी न्यूनाधिकता नहीं है। अलबत्ता उनके विकास में अन्तर है और वह अन्तर कहीं-कहीं बहुत बड़ा भी है। इस अन्तर का कारण कर्मोपाधि है। कर्मों की न्यूनाधिकता के कारण आत्मा के गुणों के विकास में अनन्त गुणा अन्तर पड़ जाता है। जीव की निकृष्टतम दशा सूक्ष्म निगोदावस्था है और उत्कृष्टतम दशा सिद्धावस्था है। सूक्ष्म निगोदिया जीव के शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की है और आयु अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। उन्हें एक ही स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्त होती है। वे जीव इसी के सहारे अपने जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं। इसी से आहार, श्वासोच्छ्वास तथा सुख-दुःख का अनुभव करते है। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों का जीवनसाधन सब से कम है।

एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव का विकास कुछ अधिक है। उन्हें जिह्वा इन्द्रिय भी प्राप्त है। इस प्रकार क्रमशः त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों का उत्तरोत्तर अधिक विकास होता गया है। फिर भी यह सब विकास परिमित ही है। किन्तु जब कर्म रूपी उपाधि का नाश हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध और वास्तविक स्वरूप मे आ जाता है तब उसके विकास की पूर्णता हो जाती हैं। पूर्ण विकास प्राप्त आत्माएँ सब समान होती हैं। उनमें कोई तारतम्य नहीं होता, क्योंकि सब का स्वभाव समान है।

अनादि काल से कर्म आत्मा के स्वरूप को आवृत किये हैं। कई लोगों का खयाल है। कि अनादि कालीन वस्तु अनन्तकालीन होती

है, अतएव कर्मों का विनाश सभव नहीं है। किन्तु यह खयाल भ्रमपूर्ण है। प्रथम तो यही कहना सत्य नहीं कि जो अनादिकालीन है वह अनन्त होना ही चाहिए, फिर कर्मों का आत्मा के साथ जो संयोग है, वह केवल परम्परा या प्रवाह की अपेक्षा से ही अनादि है। कोई विशिष्ट कर्म ऐसा नहीं जो आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ हो। कर्म की अधिक से अधिक लम्बी स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल की है। इससे अधिक कोई भी कर्म आत्मा के साथ बँधा नहीं रह सकता। अतएव प्रत्येक बद्ध कर्म की आदि और अन्त है।

हाँ, कर्मप्रवाह अनादिकालीन अवश्य है, परन्तु उसका अन्त न आ सकता हो, ऐसी कोई बात नहीं है। हम अनादि प्रवाह का अन्त होता देखते हैं। बीज और वृक्ष की सन्तान अनादिकाल से चली आरही है। प्रत्येक बीज वृक्ष से और प्रत्येक वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है। इस प्रवाह की आदि नहीं है। फिर भी जब बीज आग में भस्म कर दिया जाता है और उसमें वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रह जाती तो उस अनादि प्रवाह का भी अन्त आ जाता है।

मानवपरम्परा के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। पिता-पुत्र की सन्तति अनादिकालीन है, फिर भी जब कोई पुत्र बालब्रह्मचारी रह कर अपना जीवन व्यतीत करता है अथवा विवाहित होकर भी निस्सन्तान ही मर जाता है तो अनादि काल की वह परम्परा समाप्त हो जाती है।

अनादिकालीन प्रागभाव भी कार्योत्पत्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है और जीव का अनादि मिथ्यात्व भी नष्ट हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि कर्मप्रवाह भले अनादि हो तथापि उसका नाश कारण मिलने पर अवश्य हो जाता है। प्रकाश फैलने पर अंधकार

का नाश हो ही जाता है। इसी प्रकार कर्म की विरोधी आत्मिक शक्तियों की प्रबलता होनेपर कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों का नाश होने पर जब जीव अकर्मा हो जाते हैं तब उनके स्वरूप में किसी भी प्रकार की विसदृशता नहीं होती।

मगर यह सब बातें तभी ठीक तरह समझ में आ सकती हैं जब आत्मवाद को समझ लिया जाता और स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार जैसे ज्योतिष्क विमान मेरू के आजूबाजू घूमते हैं, वैसे ही सब विषय आत्मा को केन्द्र बना कर चलते हैं। सब भावों की सकलना आत्मा से जुडी हुई है।

जितनी भी ज्ञानशक्ति है, वह सब आत्मा की है। यद्यपि कर्म से मलीन आत्मा इन्द्रियों की सहायता के बिना पदार्थों को जान-देख नहीं सकता, फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि इन्द्रियाँ स्वयं जानती-देखती हैं। जैसे अतिवृद्ध पुरुष लाठी की सहायता के बिना चल-फिर नहीं सकता और लाठी के सहारे ही चलता-फिरता है, फिर भी चलने की शक्ति तो उस पुरुष की है। इसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा विषयों का अनुभव करने की शक्ति आत्मा में ही है। वह शक्ति इन्द्रियों की नहीं है। आत्मा ज्ञानक्रिया का कर्त्ता है और इन्द्रियाँ करण हैं।

कहा जा सकता है कि इन्द्रियाँ नहीं जानतीं और आत्मा ही जानता है, इस विषय में प्रमाण क्या है? इस कथन को कैसे सच समझा जाय? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियाँ जड हैं, पुद्गल से निर्मित हैं और हम देखते हैं कि जड़ पदार्थ में जानने-देखने की शक्ति नहीं होती। अगर इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से जानने-देखने वाली होतीं तो मुर्दा भी जानता-देखता, क्योंकि मृतक अवस्था में भी पौद्गलिक इन्द्रियाँ बनी रहती हैं। परन्तु उन इन्द्रियों की विद्यमानता

में भी मृतक देखता-जानता नहीं है। इससे निस्सन्देह यही प्रमाणित होता है कि इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं है।

इस संबंध में एक तर्क और उपस्थित किया जा सकता है। अनेक मनुष्य ऐसे है जो पहले नेत्रों से भली भाँति देखते थे और बाद में किसी कारण से नेत्रविहीन हो गये हैं। ऐसे लोगों ने सनेत्र अवस्था में जो रूप देखे थे, नेत्रहीन होने पर उन्हे उनकी स्मृति होती है या नहीं? 'होती' है।

यह तो आप जानते है कि रूप की स्मृति उसी को होती है जिसने देखा हो मेरे द्वारा देखे गये रूप की स्मृति आपको नहीं हो सकती और आपने जो देखा है उसे मैं स्मरण नहीं कर सकता। यह एक ऐसी सरल बात है जिसमें विवाद के लिए कोई अवकाश नहीं है और जो सरलतापूर्वक समझी जा सकती है।

तो इस तथ्य को सामने रख कर हम सोचें कि यदि नेत्र ही देखने वाले हों तो जब वह नहीं रहे तब उनके द्वारा देखे रूप की स्मृति किसी अन्य को नहीं होनी चाहिए थी। अर्थात् नेत्रों के चले जाने पर उनके द्वारा देखे रूपों की स्मृति भी विलुप्त हो जानी चाहिए। मगर ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में नेत्र स्वयं नहीं देखते, वरन् नेत्रों के द्वारा देखने वाला कोई और ही है जो नेत्रों के न रहने पर भी विद्यमान है। वह देखने वाला और कोई नहीं, आत्मा ही है।

किसी जगह पर लाउडस्पीकर (ध्वनिविस्तारक यंत्र) फिट कर दिया गया है। उसके तमाम कल-पुर्जे दुरुस्त हैं। परन्तु बेटरी या बिजली का कनेक्शन टूट गया है। तो क्या वह यंत्र ध्वनि का विस्तार कर सकेगा? कदापि नहीं। तो इन्द्रियाँ उस यंत्र के सदृश ही हैं। आत्मा विद्युत् के समान है। आत्मा रूपी विद्युत् से ही ध्वनि का विस्तार होता है।

इस प्रकार आत्मा ही विषयों का ज्ञाता है। इन्द्रियों का महत्व आत्मा से ही है। कर्तृत्वशक्ति आत्मा में ही है। आत्मा जब चला जाता है तो मुर्दा शरीर आग की भेंट कर दिया जाता है। उस मुर्दा शरीर को न आग की उष्णता प्रतीत होती है, न रोने वालों का शब्द सुनाई देता है और न वह अन्त्येष्टि करने के लिए जाने वाले जनसमूह को ही देखता है। अगर मुर्दे को जलाया न जाय उसे रख छोड़ा जाय तो वह सड़ जाता है और बीमारी पैदा कर देता है।

तो यह शरीर कितना ही मूल्यवान् क्यों न हो, इस का समस्त मूल्य तभी तक है, जब तक आत्मा उसके साथ है, उसमें व्याप्त है। शरीर आत्मा के साथ तो तेतीस सागरोपम तक टिक सकता है, परन्तु आत्मा के बिना थोड़ी ही देर में सड़ने-गलने लगता है।

तेतीस सागरोपम तक रहने वाला शरीर सातवें नरक में और सर्वार्थसिद्ध विमान में होता है। देवों को शरीर से-द्रव्य से बुढापा नहीं आता। उनमें न बाल्यावस्था है न वृद्धावस्था है। वे दो घड़ी में ही बत्तीस वर्ष के तरुण सरीखे हो जाते हैं।

तो अभिप्राय यह है कि शरीर का और पौद्गलिक इन्द्रियों का आधार आत्मा है। आत्मा के अभाव में शरीर और इन्द्रियाँ बेकार हो जाती हैं। अतएव जो भी कुछ जानने-देखने की क्रिया है, उसका कर्तृत्व आत्मा में ही है, इन्द्रियों में नहीं है।

जैसे मकान के भीतर बैठा हुआ पुरुष खिड़कियों के द्वारा बाहर की वस्तुओं को देखता है, उसी प्रकार शरीर के भीतर स्थित आत्मा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों को जानता है। जैसे खिड़कियों के अभाव में पुरुष देखने में असमर्थ हो जाता है, फिर भी यह नहीं

कहा जा सकता कि खिड़कियाँ देखती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों के अभाव में विषयों की उपलब्धि में आत्मा के असमर्थ होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रियाँ जानने-देखने वाली हैं।

आत्मा ज्ञान का केन्द्र है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य प्रकाश का केन्द्र है। मकान में एक दरवाजा हो तो एक से प्रकाश आता है, दो हों तो दो से और अधिक हों तो अधिक से प्रकाश आता है। इसी प्रकार जिस जीव को जितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, उसे उतनी ही इन्द्रियों से उपलब्धि होती है। एकेन्द्रिय जीवों को एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय ही प्राप्त है। द्वीन्द्रियों में दो द्वार हैं। यह सब अपने-अपने पुण्य का फल है। जिसके पल्ले में पुण्य की पूञ्जी जितनी अधिक होती है उसे उतने ही अधिक साधन प्राप्त, हो जाते हैं। जिस के पास जितना ज्यादा धन हो, वह उतना ही अधिक बड़ा बंगला बनवा सकता है। सब को अपने-अपने पुण्य के अनुसार सामग्री मिलती है।

जैसे पानी अपने स्वरूप से पानी है, सर्वत्र एक-सा है। किन्तु विभिन्न प्रकार के पात्रों में पहुचने पर उसकी संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। लोटे में रक्खा पानी लोटे का पानी कहलाता है, घड़े में पहुचा घड़े का पानी कहलाता है, नदी में नदी का, इसी प्रकार कूप का पानी, सरोवर का पानी आदि कहलाता है, इसी प्रकार ज्ञान आत्मा का है और इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त होने के कारण वह इन्द्रियों सबधी कहलाने लगता है। मगर यह सब व्यवहार है, उपचार है, तथ्य नहीं है। क्यों कि इन्द्रियों में जो भी बल है वह आत्मा का ही है।

कई लोग, जो आत्मा के स्वरूप को नहीं समझते हैं, शरीर या इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। वे अरूपी आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते और न आत्मा को एक भव से दूसरे भव में

अनुगमन करने वाला अनादि अनन्त पदार्थ मानते हैं। उनकी यह समझ भ्रमपूर्ण है। इस संबंध में फिर कभी विस्तृत चर्चा की जाएगी। परन्तु यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि शरीर जड़ है और उसकी अवयव रूप इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। दोनों में विराट् अन्तर है। अतएव शरीर या इन्द्रियों को आत्मा नहीं माना जा सकता। फिर भी जो दुराग्रहवश जड़ को ही आत्मा समझते हैं, उन्हें समझाना कठिन है।

ऐसे लोगों का ख्याल है कि आत्मा पाँच तत्त्वों के समूह का फल है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश, इन पाँच तत्त्वों के सम्मिश्रण से एक अपूर्व वस्तु-चेतना उत्पन्न हो जाती है, जैसे मद्य के कारणों के मेल से मद्य की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु यह तर्क सर्वथा गलत है। शरीर को मिट्टी समझना, शरीर में रहे हुए रुधिर आदि तरल पदार्थों को जल रूप मानना, श्वासोच्छ्वास को वायु तत्त्व अंगीकार करना, खाये-पीए को पचाने वाली जठराग्नि को अग्नि तत्त्व मानना और शरीर के भीतर जो पोलार-खाली जगह—है, उसे आकाश-तत्त्व मानना और इन सब के समूह को ही आत्मा समझ लेना नासमझी की पराकाष्ठा है। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यह पाँचों तत्त्व जड़ हैं। इनमें प्रारंभ के चार पुद्गल रूप हैं और आकाश अरूपी अजीव द्रव्य है। इनमें से किसी में भी चेतना विद्यमान नहीं है। पृथ्वी आदि तत्त्व जब पृथक्-पृथक् अवस्था में होते हैं तो किसी में भी चेतना का अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। ऐसी अवस्था में उनके समूह में भी चेतना कैसे आ सकती है?

जैनदर्शन के ग्रन्थों में इस विषय पर विस्तार के साथ चर्चा की गई है। वहाँ इस भूतवाद को अयुक्त ठहराते हुए अनेक हेतु और प्रमाण दिये गये हैं। एक उदाहरण बालू का भी दिया गया है।

वह इस प्रकार है बालू रेत के एक-एक कण में तेल नहीं तो उनके समूह में भी जैसे तेल नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रत्येक भूत में जब चेतना नहीं है तो उनके समूह में भी नहीं हो सकती। आखिर पृथक्-पृथक अवयवों में विद्यमान गुण ही उनके समूह में आ सकते हैं। समूह में कोई अपूर्व या अनूठा गुण नहीं आ सकता ऐसी स्थिति में प्रत्येक भूत में अविद्यमान चेतना उनके समूह में किस प्रकार आ सकती है?

अगर कहा जाय कि पाँच भूत जब तक अलग-अलग पड़े रहते हैं, तब तक उनमें चेतना उत्पन्न नहीं होती; परन्तु जब वे शरीर की आकृति धारण करते हैं, तब चेतना उत्पन्न हो जाती है। तो यह कथन भी समीचीन प्रतीत नहीं होता। ऐसा होता तो जीव की मृत्यु ही कभी न होती। जब शरीर से ही चेतना की उत्पत्ति होती है तो फिर क्या कारण है शरीर की विद्यमानता में भी, मृतक दशा में, चेतना का अभाव हो जाता है?

कुछ लोग कहते हैं कि मृतक शरीर में वायु और अग्नि तत्त्व नहीं रहता। इन तत्त्वों के अभाव के कारण ही मृतक पुरुप में चेतना का अभाव हो जाता है। परन्तु यह बचाव ठीक नहीं है। मृतक शरीर में दिखाई देने वाली सूजन से अनुमान होता है कि उस में वायुतत्त्व विद्यमान है। मृत्यु हो जाने के पश्चात् भी कुछ समय तक मुर्दा शरीर में गर्मी बनी रहती है। इससे अग्नि तत्त्व का अस्तित्त्व भी सिद्ध होता है।

कदाचित् मान भी लिया जाय कि यह दोनों तत्त्व मृतक में नहीं रहते और इसी कारण वह मृतक कहलाता है तो भी यदि यंत्र के द्वारा उसमें वायु और तेज तत्त्व का प्रवेश कराया जाय तो क्या वह पुनः जीवित हो उठेगा? हो तो हो जाना चाहिए क्योंकि उस दशा में पाँचों तत्त्वों का मिलाप हो ही जाता है। किन्तु मृतक का इस

प्रकार पुन जीवित हो जाना असंभव है। न कभी ऐसा हुआ है और न हो ही सकता है। यह संभव होता तो सभी लोग अपने संबंधियों को जीवित कर लेते। फिर तो मृत्यु जनित वियोग किसी को सहन ही न करना पड़ता।

सज्जनो! धर्म और धर्मी या गुण और गुणी में सर्वत्र अनुरूपता दृष्टिगोचर होती है। जैसा धर्मी वैसा धर्म और जैसा धर्म वैसा धर्मी होता है। धर्म और धर्मी में कभी विरूपता नहीं होती। इस नियम के आधार पर यदि परीक्षा करके देखें तो पाँच तत्त्व धर्मी हैं और चेतना उनका धर्म है, यह बात गलत साबित होती है। पाँच तत्त्वों में से पृथ्वी कठोर है परन्तु चेतना में कठोरता नहीं है। जल में द्रवता है परन्तु चेतना मे द्रवता नहीं है। आग में उष्णता है पर चेतना में उष्णता नहीं है। वायु में तिर्यक् गतिशीलता और शीत स्पर्श है जब कि चेतना में यह धर्म नहीं हैं। आकाश में पोलाण है किन्तु चेतना मे नहीं है। और चेतना में जानने-देखने, समझने-बूझने का जो गुण है वह पाँच तत्त्वों में से किसी मे भी नहीं है। अतएव कैसे माना जा सकता है कि चेतना पचतत्त्वों का धर्म है?

वास्तव मे चेतना पाँच तत्त्वों का गुण अथवा कार्य न हो कर एक अनूठा धर्म है और जब धर्म है तो उसका कोई धर्मी होना ही चाहिए। धर्म, धर्मी के विना नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करने पर चेतना का आधार मूल जो धर्मी सिद्ध होता है, वही आत्मा है। वह जड़ से पृथक् पदार्थ है।

आत्मा है तो स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि भी हैं। अगर आत्मा का अस्तित्व न होता और उसका पुनर्जन्म न होता तो नरक-स्वर्ग आदि व्यर्थ हो जाते। आत्मा न हो तो शुभ-अशुभ कर्मों का उपभोग कौन करे? भोगने वाला पाँच भूतों के बिखर जाने पर बिखर जाता है तो

फिर कौन शेष रहता है जो कृत कर्मों के फल को भोगता है ? स्वर्ग में कौन जाता है ? नरक में कौन जाता है ? मोक्ष में कौन जाता है ?

इस संसार में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के प्रभाव से नाना प्रकार के मत प्रचलित हैं । पचभूतवादियों का उल्लेख अभी किया गया है । कोई-कोई आकाश तत्त्व को न मान कर सिर्फ चार ही भूत मानते है तो कोई आत्मा को छठा भूत मानता है । छह भूत मानने वाले आत्मा को पॉच भूतों से भिन्न अवश्य मानते हैं और यहाँ तक इनकी मान्यता ठीक भी है । कोई मतभेद नहीं है । परन्तु जब वे यह कहते हैं कि पॉच भूतों का विनाश होने पर छटे भूत आत्मा का भी विनाश हो जाता है तो बात गड़बड़ में पड़ जाती है । उनके मतके अनुसार घड़ा नष्ट हुआ तो उसमें स्थित पानी भी नष्ट हो गया । परन्तु यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है । पानी नष्ट नहीं होता, अन्यत्र चला जाता है । बाहर निकल जाता है । इसी प्रकार शरीर के साथ आत्मा का विनाश नहीं होता, बल्कि शरीर को त्याग कर आत्मा अन्यत्र चला जाता है ।

जैसे रेल के डिब्बों को संचालित करने वाला एंजिन डिब्बों से भिन्न है, उसी प्रकार शरीर को संचालित करने वाला आत्मा शरीर से भिन्न है, शरीर अशाश्वत है, आत्मा शाश्वत है । शरीर जड़ है आत्मा चेतन है । शरीर रूपी है, आत्मा अरूपी है । शरीर भूतों के सम्मिलन से बनता है; आत्मा अजर अमर अविनाशी है ।

आत्मा का निषेध करने वाला और आत्मा के विषय में संदेह करने वाला भी आत्मा ही है । आत्मा न होता तो आत्मा में संशय किसे होता ? कौन उसका विधान अथवा निषेध करता ?

इतनी चर्चा से आपकी समझ में आ गया होगा कि वास्तव में आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है और उसे स्वतंत्र माने बिना धर्म का समग्र आधार ही ध्वस्त हो जाता है ।

यह सब सूत्रकृतागसूत्र की चर्चा है उत्तराध्ययन सूत्र में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

भृगु पुरोहित के दो भाग्यवान् पुत्र थे-देवभद्र और यशोभद्र। उन्हें संसार की असारता देख कर वैराग्य उत्पन्न हो गया। तब उन्हों ने दीक्षा लेने की अनुमति माँगी।

भला इस दुःख रूप ससार के स्वरूप को देख कर किस विवेकवान् को विरक्ति न होगी! यथार्थ ही कहा है—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ किस्संति जंतुणो।

यह समग्र संसार घोर दुःखों से परिपूर्ण है। इसमे जन्म का भीषण दुःख और बुढ़ापे का दुःख तो है ही, विविध प्रकार की व्याधियाँ और मृत्यु भी कम दुःख उत्पन्न नहीं करती। इन दुःखों के दावानल में ससार के समस्त प्राणी झुलस रहे हैं। जहाँ देखो वहीं हाहाकार मचा हुआ है। भौतिक पदार्थों के लोभियों को कहीं शान्ति नहीं, कहीं निराकुलता नहीं है। वे ज्यों-ज्यों भौतिक पदार्थ जुटा कर सुख पाने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों उनका दुःख बढता जाता है। ऐसी स्थिति में 'वैराग्यमेवाभयम्'। अर्थात् संसार के कामभोगों मे विरक्ति होना ही निर्भय होने का मार्ग है।

पुरोहित के लड़कों के जीवन के पीछे एक इतिहास है। भृगु पुरोहित के घर दो देवते साधु का रूप धारण करके ईर्यासमितिपूर्वक आए। पुरोहित ने उनकी आवभगत बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ की। पुरोहित ने उन्हें आहार भी दिया। यद्यपि उन देवताओं को आहार करना नहीं था, क्योंकि देवता ओजाहारी होते हैं, फिरभी आहार

ग्रहण करने का उन्होंने अभिनय किया। आहार देने के पश्चात् पुरोहित ने अत्यन्त दीनता के साथ हाथ जोड़ कर निवेदन किया-महाराज, मेरे यहाँ सन्तान नहीं है। अतएव यह घर सूना है, अंधेरा है। सन्तान के अभाव में गृहिणी सदैव दुखी रहती है। दीनानाथ, आप तो सभी कुछ जानते हैं। आप से क्या छिपा है? कृपा करके इस अभाव की पूर्त्ति का कोई उपाय बतलाइए।

सज्जनो! दुनियादार लोग बडे ठग हैं। उनका ध्यान ऐहिक स्वार्थ की ओर ही रहता है। वे साधु संतो का भी लौकिक स्वार्थ के लिए उपयोग करना चाहते हैं और साधु कच्चा हो तो उनके चक्कर में पड़ कर बिगड़ जाता है। आज अनेक साधु गडा-तावीज देते हैं तथा ज्योतिप और निमित्त आदि का भी प्रयोग करते हैं। यथार्थ मे ऐसे साधु, साधु नहीं हैं, वे साधु रूपधारी बहुरूपिये हैं। वे साधुत्व का नाटक करते हैं। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र के दागीने नहीं हैं, बल्कि मोची के करडिये हैं जिनमें चमड़े के टुकड़े होते हैं। ऐसे लोग अपनी आत्मा का ठगते हैं और अपने भविष्य को अमंगलमय बनाते हैं।

हाँ, तो पुरोहित ने कहा- दया करके कुछ मन्त्र-यन्त्र बतलाइए जिससे मेरी मनोकामना पूरी हो।

साधु बोले-भाई, हम साधु हैं। संयम और तप के पथ पर चलने वाले हैं। हम दुनियादारी की बातों मे दखल नहीं देते। धर्म की बात सुनना चाहो तो सुन सकते हो।

किन्तु पुरोहित नहीं माना उसने कहा-दीनानाथ, मैं आपका भक्त हूँ। आपके सिवाय और किसके पास जाऊँ? किससे याचना करूँ? आप ही कोई उपाय बतलाने की कृपा कीजिए। सन्त पुरुष तो परम दयालु होते हैं। वे कल्पवृक्ष हैं।

साधु—पुरोहित जी, मगर इस प्रकार की बातें बतलाना हमें नहीं कल्पता है।

पुरोहित—पर अपने भक्तों का तो खयाल कीजिए। पुरोहित का प्रबल आग्रह देख कर सन्तों ने कहा हमारा विचार बतलाता है कि तुम्हारे घर में दो पुत्रों का जन्म होगा। मगर देखो, फकीरों की बात याद रखना। अगर वे लड़के संसार से विरक्त होकर त्याग-मार्ग पर आरूढ हों और संयम ग्रहण करना चाहें तो उनके मार्ग में बाधा न डालना।

पुरोहित की प्रसन्नता का पार न रहा। उसके चित्त में असीम आनन्द का स्रोत वह निकला। उसने मुनियों को आश्वासन देते हुए कहा-नहीं डालेंगे महाराज, बाधा नहीं डालेंगे। हमें तो गति प्राप्त करने के लिए पुत्र की आवश्यकता है।

जब पुरोहित जिह्वा से यह कह रहा था तब उसके मन में कुछ और ही बात थी। वह मन में सोच रहा था-एक बार सन्तान हो तो सही फिर देखा जाएगा।

मनुष्य कोई मामूली प्राणी नहीं है। वह अपने सजातीय मनुष्य को तो ठगता ही है, अपने आराध्य भगवान् को और गुरु को भी धोखा देने से बाज़ नहीं आता।

एक जाट की भैंस गुम गई। बहुत कुछ खोज करने पर भी जब पता न लगा तो उसने देवता और देवीयों की शरण ली। भैरों और भवानी आदि की मनौती की। भवानी के पास जाकर उसने प्रतिज्ञा की-मेरी भैंस मिल जाए तो सो रुपया का चबूतरा और सोने का छत्र बनवा दूँगा। भैरों के पास जाकर भी ऐसी ही उदार मनौती की। उसने करीब पाँच सौ की बोली बोलदी। किसी ने उससे पूछा-भाई, क्या बात है? क्यों मनौती कर रहे हो?

जाट— अजी, मेरी भूरी भैंस गुम गई है।

वह— भैंस की क्या कीमत होगी ?

जाट— दो सौ से कम की नहीं है।

वह— पर तुमने तो पाँच सौ की मनौती कर डाली।

जाट— देखते तो जाओ। एक बार भैंस मिल जाने दो, फिर भैरों-भवानी को भी अगूठा दिखा दूँगा !

यह है आत्मवचना। मनुष्य जब दूसरों को ठगने की चेष्टा करता है तो अपने आपको ही ठगता है। जब दूसरों का अहित करता है तो अपना ही अहित करता है। दूसरों को नीचे गिराने का प्रयत्न करता है तो अपने को ही गिराता है। दूसरों की हिंसा करता है तो अपनी ही हिंसा करता है।

भृगु पुरोहित भी उस जाट की ही कोटि का था। उसने सोचा-जैसे-तैसे एक बार पुत्र-जन्म तो हो जाय ! फिर समझ लूँगा।

आखिर उसके यहाँ दो पुत्रों का जन्म हुआ। कठिनाई से सन्तान की प्राप्ति होने के कारण उसे और उसकी पत्नी को असाधारण प्रसन्नता हुई। पुत्र धीरे-धीरे बड़े हुए और समझने लगे तो वह चौकन्ना रहने लगा। उसे सदैव खयाल रहता कि इनकी किसी साधु से भेंट न हो जाए, अन्यथा यह साधु बन जाएँगे।

इस भय के कारण उसने एक नया गाँव बसाया, जहाँ साधु न पहुँच सकें। यही नहीं, अवसर पाकर वह साधुओं की उनके सामने बुराइयाँ करना और उन्हें बड़ा भयंकर प्रकट किया करता। कहता— देखो बेटा, साधु बड़े हत्यारे होते हैं। पहले तो बड़ी मीठी बातें करते हैं, दया और अहिंसा की महिमा गाते हैं, आत्मकल्याण का उपदेश देते हैं और कोई उनका चेला बन कर साथ हो जाता है तो नाक कान आदि काट लेते हैं और उसे मार देते हैं उनकी झोली में उस्तरे चाकू

कैंची छुरी आदि शस्त्र रहते हैं उनसे बच कर रहना।

इस प्रकार पुरोहित ने अपनी समझ और शक्ति के अनुसार पुत्रों के हृदय में साधुओं के प्रति भय की भावना उत्पन्न कर दी और सोचा कि अब मेरे पुत्र कभी किसी साधु के पास फटकेंगे भी नहीं।

एक बार भूल से कुछ मुनि उधर जा पहुँचे। भृगु को उनका आना बहुत बुरा लगा, मगर किसी अज्ञात आशंका और भय के कारण उसने ऊपरी भाव से उनका स्वागत किया और कहा—बड़ा पुण्य उदित हुआ कि आपके दर्शन हुए। परन्तु आप कृपा करके जल्दी ही पधार जाइए। मेरे पुत्र बड़े अधर्मी, अन्यायी और क्रूर हैं। वे साधु-सन्तों को सताये बिना नहीं रहते।

साधु चले गये। पुरोहित के दोनों पुत्र उस समय घर से बाहर गये हुए थे। परन्तु भवितव्यता बड़ी प्रबल होती है। लाख उपाय करने पर भी वह टलती नहीं। साधु जिस रास्ते रवाना हुए, उसी रास्ते से दोनों लड़के घर की ओर लौट रहे थे। उन्होंने दूर से ही साधुओं को देखा। पिता की बात स्मरण हो आई। कि साधु बड़े भयंकर होते हैं। मनुष्य को मार कर खा जाते हैं। अतएव अपने बचने का अन्य उपाय न देख कर डर के मारे वे रास्ते के किनारे खड़े एक पेड़ पर चढ़ गये। पेड़ सघन था और इस कारण उसकी छाया भी सघन और शीतल थी।

मुनियों ने पेड़ के समीप पहुँच कर देखा—इसी जगह शीतल छाया में बैठ कर आहार कर लें। थोड़ी विश्रान्ति करके फिर आगे चलेंगे।

इस प्रकार जिस पेड़ के ऊपर पुरोहित पुत्र छिपे थे, मुनि उसी पेड़ के नीचे बैठ गये। पुरोहित पुत्र बड़ी सावधानी से उनकी क्रियाओं का निरीक्षण करने लगे। उन्होंने देखा—कीड़ी आती है तो वे रजोहरण से, बहुत हल्के हाथों से उसे दूर करते हैं। यह सब देखकर उनके मन में

आया—जो कीड़ी की दया पालते हैं, वे मनुष्य को किस प्रकार मार सकते हैं। यह तो षट्काय के रक्षक हैं। इनके दिल में दया का झरना वहता है। इनसे हमें किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता।

आखिर उन्होंने प्रकट—हो कर मुनियों से धर्म का स्वरूप समझा। मुनियों ने ससार की असारता दिखलाते हुए दु:खों से आत्यन्तिक छुटकारा पाने का मार्ग बतलाया। लड़कों को वैराग्य आया और पिता के पास पहुँच कर संयम ग्रहण करने की आज्ञा माँगी।

पिता ने कहा—जिस सुख की प्राप्ति के लिए तुम सयम और तपश्चरण करना चाहते हो, वह तो तुम्हें यहीं प्राप्त है। फिर क्यों गृह का त्याग करते हो? गृहस्थी के सुख भोगो। फिर धर्म करना।

तब पुत्रों ने कहा—पिता जी!

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो॥

अर्थात्—जैसे इन्द्रायण के फल देखने में सुन्दर और खाने मे मधुर होते हैं, मगर उनका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी वड़ा ही घातक सिद्ध होता है, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी वड़ा ही घातक सिद्ध होता है।

ससार के भोग अनादि काल से जीव भोगता चला आ रहा है, किन्तु न उसे तृप्ति हुई और न सुख मिल सका। ऐसी स्थिति में इस जन्म के भोगो से ही कैसे सुख मिल जाएगा? वास्तव मे कामभोग सुखरूप नहीं, दु खरूप है।

पुरोहित ने देखा कि यह तीर वेकार गया तो उसने दूसरा तीर छोड़ा। कहा—नादान वालको! तुम किस भ्रम मे पड़ गये हो! न

स्वर्ग है, न नरक है और न परलोक मे जाने वाला कोई नित्य आत्मा है। जैसे अरणि के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न हो जाती है या तिलों को पेलने से तेल निकल आता है उसी प्रकार भूतों के सम्मिश्रण से चेतना उत्पन्न हो जाती है और भूतों के बिखरने पर बिखर जाती है। तुम किसके लिए प्राप्त सुख त्याग कर कांटों के रास्ते पर चलने की सोचते हो?

मगर वे लड़के पूर्व जन्म के संस्कारों से सम्पन्न थे। देवगति से च्युत होकर आये थे और आत्मा का स्वरूप समझ गये थे। पुरोहित उन्हे चक्कर में डालने का प्रयत्न करके भी सफल नहीं हो सकता था। लड़कों ने कहा—

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा विय होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो,
संसारहेउं च वयन्ति वन्धं॥

आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है 'इसी कारण स्थूल इन्द्रियों से उसकी सत्ता प्रतीत नहीं होती। आत्मा अमूर्त्त है, निराकार है, इसी से वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है; मगर अमूर्त्त होने से ही उसकी नित्यता की प्रतीति होती है। जो पदार्थ अमूर्त्त होता है वह नित्य होता है, जैसे आकाश। आत्मा मे रहे हुए राग—द्वेष आदि विकार कर्मबंध के कारण हैं। कर्म बंध के कारण ही आत्मा का जन्म-मरण होता है।

पुरोहित पुत्र पक्के आत्मवादी थे। अपने ध्येय के भी पक्के थे। स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्म के आस्तित्व पर उनकी दृढ़ आस्था थी। अतएव पुरोहित का जादू उन पर न चल सका।

आत्मा की प्रतीति जब किसी के अन्तःकरण मे बद्धमूल हो

जाती है तो उसे किसी भी प्रकार के कुतर्क विचलित नहीं कर सकते। उसके संकल्पबल के सामने जगत् के प्रलोभन या भ्रम में डालने वाले विचार टिक नहीं सकते।

भगवान् कहते हैं— आत्मा स्वतंत्र सत् पदार्थ है और जो स्वतंत्र सत् पदार्थ होता है, वह त्रिकालस्थायी होता है। आत्मा भूत काल में था, वर्त्तमान में है और भविष्यत् में रहेगा। उसका पर्यायान्तर होता है, मगर विनाश नहीं होता।

भगवान् के इस कथन पर आस्था रख कर जो पूर्ण आत्मवादी बन कर प्रभु का ध्यान लगाते हैं, शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचानते हैं और परकीय आत्मा को अपने ही समान समझते हैं, वे संसार-सागर से पार हो जाते हैं।

राजकोट,
३०-७-५४ }

अमोघ औषध

अरिहन्त अरिहन्त, अरिहन्त अरिहन्त ।
धर्मसेवी भद्र पुरुषो !

सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग अरिहन्त प्रभु ने हम संसारी जीवों पर अपार करुणा करके आत्मोत्थान का मार्ग बतलाया है । उन्होंने राज-पाट त्याग कर, सासारिक वासनाओं से विमुख होकर, कठिन तपश्चरण किया । अपनी आत्मा में लौ लगाई, जिसके परिणामस्वरूप अनन्त, अक्षय, लोक और अलोक को अवलोकन करने वाला अलौकिक आलोक उन्हे प्राप्त हुआ । उस आलोक की प्रखरतम ज्योति अखिल विश्व में व्याप्त हुई । हमे भी उसका लाभ मिला । भव्य जीवों के पुण्य के उदय से तथा धर्मोपदेश द्वारा ही भोगे जाने वाले तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से केवली तीर्थंकर भगवान् ने जगत् को धर्म का उपदेश दिया ।

यद्यपि अरिहन्त भगवान् विश्व के समस्त रूपी, अरूपी, सूक्ष्म, स्थूल, जड़, चेतन आदि भावों को जानते-देखते हैं । कोई भाव ऐसा नहीं जो उनके ज्ञान में प्रतिभासित न होता हो, मगर सभी ज्ञेय भाव वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते । ज्ञेय भावों का अनन्तवाँ भाग ही कथनी में आता है । फिर जो कुछ कहा गया, वह सब अक्षर-रूप में निबद्ध नहीं हुआ । गणधर देवों ने कथित तत्त्व का असंख्यातवाँ

भाग ग्रन्थ रूप में गूंथा। उससे द्वादशांगी का निर्माण हुआ। वह द्वादशागी साहित्य भी जिसे 'गणिपिटक' का गौरवमय नाम दिया गया है, अत्यन्त विशाल था। पर वह शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा से मौखिक ही चल रहा था। काल के प्रभाव से, परिस्थितियों की भीषणता से और मानवीय स्मृति के ह्रास के कारण उस अनमोल साहित्य का बहुभाग विस्मृति के अंधकार में विलुप्त हो गया है। फिर भी आज हमारे सामने जो साहित्य है, वह भी कम नहीं है। जिज्ञासु जनों के लिए, आत्म-कल्याण के इच्छुक जीवों के लिए वह आगम पूर्ण उपयोगी और मार्ग दर्शक है। उस का परिशीलन करके हम अपना हितसाधन कर सकते हैं।

इस प्रकार हमारे लिए जो कुछ भी उपयोगी और आवश्यक था, भगवान् ने सभी कुछ बतला दिया। उन्होंने अपनी ओर से कोई कसर नहीं रक्खी। उन्होंने स्पष्ट बतला दिया है कि सासारिक दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है, छुटकारा पाने का उपाय है और वह सम्यग्ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र है। जो मुमुक्षु इस रत्नत्रय का सेवन करता है, उसे पूर्णता पर पहुँचाता है, वह अवश्य परममगलमय सिद्धि प्राप्ति कर लेता है।

भगवान् ने कहा-भवभ्रमन के जो कारण है, उनसे ठीक विपरीत मुक्ति के कारण हैं। आस्तव और बंध संसार के मुख्य कारण हैं और संवर तथा निर्जरा से मोक्षलाभ होता है; कर्मों के आगमन को रोक देना संवर है। व्रतों का पालन करने से, पॉच समितियों और तीन गुप्तियों के आराधन से, दस प्रकार के यतिधर्मों का सेवन करने से अनित्य, अशरण आदि द्वादशविध भावनाएं भाने से और परीषहों को जीतने आदि से सवर होता है। निर्जरा का प्रधान साधन तपश्चरण है। अन्तरंग और बहिरंग तपस्या करने से कर्मजाल उसी

प्रकार भस्म हो जाता है, जिस प्रकार आग मे ईंधन।

यह भगवान् का उपदेश है। इस का पालन करके अनन्त जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है। अतएव यह भली-भाँती परीक्षित मार्ग है। इसमें संशय के लिए किसी प्रकार का अवकाश नहीं है।

इस मार्ग को जानने और दृढ श्रद्धा करने के साथ ही साथ अनुकूल आचरण की भी आवश्यकता है। आचरण के अभाव में इस मार्ग को जानने मात्र से यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता।

वैद्य हो, हकीम हो या डाक्टर हो, उसी रोगी को स्वास्थ और नीरोग कर सकता है जो उसके कथनानुसार आचरण करता है। कहा भी है—

सुचिन्तितं चौषधमातुराणां,
न नाम मात्रेण करोत्यरोगम्।

वैद्य भले कितना ही सोच-समझकर औषध बतलाए, परन्तु जब तक रोगी पथ्यपूर्वक उसका सेवन न करेगा और सिर्फ नाम ही नाम रटता रहेगा, तब तक उसे स्वास्थ्यलाभ नहीं होगा।

वैद्य या डाक्टर, सब शरीर के संशोधक हैं, रोगनाश के उपायकर्त्ता है। डाक्टरी और हकीमी और आयुर्वेदिक दवाओं का उद्देश्य एक ही है, सब रोग का दूर करने का प्रयत्न करते हैं। मगर वही चिकित्सक सफल हो सकता है जो दवा देने मे पहले रोग के निदान पर ध्यान देता है। जो मूल को नहीं समझता वह अंधेरे मे तीर चलाता है। अंधेरे मे तीर चलाने वाला अपना लक्ष्य स्थिर नहीं कर सकता। वह चलाता है परन्तु नहीं जानता कि यह किसको लगेगा? चाहे जिसे लग जाय या किसी को न लगे अकस्मात् लक्ष्य पर पहुँच जाय न भी पहुँचे। उसे न मित्र का पता है, न शत्रु का

ही पता है।

तो वैद्य, जो रोग का निदान नहीं जानता और रोग का नाम भी नहीं जानता वह रोग पर काबू नहीं पा सकता। यह बात दूसरी है कि रोगी को कभी सातावेदनीय शुभ कर्म का प्रबल उदय हो जाय जिससे उसका रोग दूर हो जाय कई रोगी ऐसे भी देखे जाते हैं जो दवा न लेने पर भी ठीक हो जाते हैं। उनके असातावेदनीय अशुभ कर्म की स्थिति पूरी हो जाती है। और सातावेदनीय का उदय हो जाता है। इस कारण दवा के अभाव में भी उन्हें स्वास्थ्यलाभ हो जाता है। किन्तु इस आधार पर यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि औषध कुछ कार्य ही नहीं करती।

कुछ लोग एक मात्र उपादान को स्वीकार करके निमित्त का निषेध करते हैं। कहते हैं—उपादान के अनुसार ही कार्य होता है। निमित्त से न कुछ बनता है और न बिगड़ता ही है। किन्तु इस प्रकार की मान्यता भ्रमपूर्ण है। प्रत्येक कार्य के लिए दोनों कारणों की आवश्यकता है। आत्मा स्वाभावत. शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध स्वरूप है, मगर आज वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में नहीं है। इसके कारण का विचार अगर किया जाय तो पता चलेगा कि निमित्त कारण कितना सबल होता है और क्या-क्या कौतुक करता है। यदि निमित्त कारण अकिंचित्कर है तो क्या सिर्फ उपादन कारण ने ही आत्मा को अपने स्वरूप से भ्रष्ट किया है? आत्मा के आत्मस्वरूप से च्युत होने का उपादन कारण स्वयं आत्मा है। अतएव इसका निष्कर्ष यह निकलेगा कि आत्मा स्वयं ही, बिना किसी दूसरे कारण के, स्वरूपच्युत, मलीन और विस्मृत, हो रहा है। यदि यह सत्य है तो सिद्धों की आत्मा भी इसी प्रकार मलीन और विस्मृत क्यों नहीं होती? जब उपादान कारण से ही कर्म होता है तो उपादान कारण

तो वहाँ पर विद्यमान ही है। वह अपना कार्य क्यों नहीं करता ?

घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी उपादान है और कुम्हार, चाक, आदि निमित्त कारण हैं। क्या कभी संभव है कि अकेली मिट्टी से; कुम्हार और चाक रूप निमित्त कारण के अभाव में, घड़ा बन जाय ? अगर ऐसा होने लगे तो खेत और खान की सारी मिट्टी घड़ों के रूप में परिणत क्यों नहीं हो जाय ?

तो जगत् में निमित्त कारण की उपयोगिता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। फिर भी उसका अपलाप करना कहाँ तक उचित है, कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार की मान्यता भगवान् के अनेकान्त-सिद्धान्त से विरुद्ध है और एकान्त रूप होने से मिथ्या है। वास्तव में किसी भी कार्य की उत्पत्ति उपादान और निमित्त कारण से इसमे भी अन्तरंग और बहिरंग कारण से होती है।

रोग का उपादान कारण स्वयं रोगी जीव है, अपथ्य आहार-विहार आदि उसके निमित्त कारण हैं। निमित्त कारणों में भी अन्तरंग कारण असातावेदनीय कर्म का उदय है और बहिरंग कारण अनियत तथा अनेक हो सकते हैं। इन सब के समवाय से रोग की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार नीरोगता के कारण भी दोनों हैं। अतएव कभी-कभी सातावेदनीय रूप अन्तरंग निमित्त कारण मिलने पर रोगी को स्वास्थ्यलाभ हो सकता है, तथापि औषधसेवन की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार कर्मबंध और मुक्ति का उपादान कारण स्वयं आत्मा है और निमित्त कारण अनेक होते हैं। किसी जीव को एक निमित्त पाकर विरक्ती हो जाती है तो दूसरे को दूसरा निमित्त मिलने पर आसक्ति हो जाती है।

मृगापुत्र राजकुमार थे। तरुण अवस्था थी। सांसारिक वैभव

उनके चरण चूमता था। देवांगनाओं के समान पत्नियाँ थीं। भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री उन्हें अनायास सुलभ थी। एक बार वह अपनी स्त्रियों के साथ राजमहल में रागरंग में मस्त थे कि कोई मुनिराज आहारार्थ नगर में आये और राजमहल के समीप होकर निकले। उस समय राजकुमार मृगापुत्र गवाक्ष में आसीन थे।

महल का गवाक्ष इस ढंग से बना था कि उसमें से दूर-दूर तक के दृश्य देखे जा सकते थे। अकस्मात् मृगापुत्र की दृष्टि नगर की ओर गई तो देखा तपोनिष्ट योगपरायण मुनिराज पधार रहे हैं! मन्द-मन्द गति से, गन्तव्य मार्ग पर नजर गड़ाये, अत्यन्त शालीनता के साथ कदम बढ़ाये चल रहे हैं।

यद्यपि गवाक्ष से बाहर अनेक पदार्थ दिखाई दे रहे थे, तथापि राजकुमार की दृष्टि मुनिराज पर ही अटक गई। उसे अन्य पदार्थ विषयवर्द्धक और आत्मशोषक प्रतीत हुए, एक मुनिराज ही चित्ताकर्षक लगे। उसकी दृष्टि वहीं केन्द्रित हो गई। महल में से ही उसने मुनिराज के दर्शन किये और भावपूर्वक नमस्कार किया।

मृगापुत्र ने आजकल की भाँति मुनिराज के दर्शन नहीं किये। केवल रूढ़ि या परम्परा का पालन करने के लिए नहीं, वरन् हृदय में उमड़ी हुई भक्ति को चरितार्थ करने के लिए दर्शन किये। 'तहमणे तहचित्ते, तद्दिट्ठिए' अर्थात उसका मन, चित्त और दृष्टि, तीनों उस समय एक रूप हो गये। तीनों भक्ति में सराबोर हो उठे। उसकी सारी विचारणा मुनि में केन्द्रित हो गई। उसके हृदय में अपूर्व और अतिशय पावन विचार और संकल्प उदित हुआ। मुनिदर्शन से उसे अनूठा आनन्द मिला। वह अपने को धन्य और कृतार्थ मानने लगा।

रसायन बनती है तो अनेक द्रव्यों के संयोग से बनती है।

जो-जो वस्तु जितनी-जितनी मात्रा में चाहिए, उस-उसका उतनी ही उतनी मात्रा में प्रयोग किया जाय तो ठीक रसायन तैयार होती है। एक भी द्रव्य यदि कम-बढ़ हो जाय तो रसायन यथेष्ट फल प्रदान नहीं करती। इसी प्रकार आत्मा को रसायन बनाने के लिए, विशुद्ध और जागृत करने के लिए तीनों योगों की एकरूपता एकनिष्ठता होनी चाहिए। तभी पूर्ण रसायन बनती है। एक भी योग यदि कम हुआ तो काम नहीं चलता।

मनुष्य को ही मुक्ति क्यों प्राप्त होती है? एकेन्द्रिय आदि जीव क्यों नहीं पा सकते? बात यही है कि एकेन्द्रियादि जीवों को रसायन बनाने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों को मनोयोग और वचन योग प्राप्त नहीं हैं। सिर्फ काययोग प्राप्त है और वह भी कम शक्तिमान् है। द्वीन्द्रिय आदि उनकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं, फिरभी असंज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था तक योगों की पूर्णता नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को तीनों योग प्राप्त रहते हैं, फिर भी मनुष्य में जैसी विचारशक्ति है, वैसी तिर्यंचों में नहीं। देवों और नारकों की बात निराली है। वे पुण्य-पाप के तीव्र फलों को भोगने में इतने व्यस्त रहते हैं कि रसायन नहीं बना सकते।

तो रसायण बनाने के लिए अनेक कारण चाहिए। आत्मोत्थान के लिए मन वचन और काय की एकरूपता आवश्यक है। शुद्ध भावना के विना कोई आत्मा न महात्मा बन सकता है, न परमात्मा बन सकता है।

मृगापुत्र ने महात्मा को देखा और न केवल चमड़े की आँखों से वरन् अन्तरतर के नेत्रों से देखा। देखते ही उसका जीवन बदल गया। भोगमय जीवन ने दूसरी दिशा पकड़ ली। रंग बदल गया। कहा है—

रंग लागत लागत लागत है,
भ्रम भागत भागत भागत है ॥
यह अनादि काल का सोता जीवड़ा,
जागत जागत जागत है ॥

तीनों योगों के एकीकरण के साथ राजकुमार ने मुनिराज के दर्शन किये। संयम का अलौकिक सौन्दर्य नेत्रों के मार्ग से उसकी अन्तरात्मा तक पहुँच गया। उसकी भावना भोग के पथ से हट कर योग की तरफ मुड़ गई। पानी का रूख बदल गया। विपयासक्त दृष्टि आत्मभाव की ओर चल पड़ी। वह आन्तरिक जगत् में पहुँच गया। ऊहापोह करने लगा। आत्मिक गहराई में पहुँच कर गंभीरतापूर्वक कुछ सोचने लगा।

जिन खोजा तिन पाइआ गहरे पानी पैठ।

जो खोजा करता है उसे वस्तु प्राप्त होती है। मोती प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को सागर के गहरे तल में पैठना पड़ता है। पानी की ऊपरी सतह पर तैरने वाला मोती नहीं पा सकता।

मगर समुद्र की गहराई को पार करके तल तक कौन पहुँच सकता है? जो अपनी जान हथेली पर रख कर उद्योग करता है वही उस गहराई में प्रवेश करता है और उसी को मोती मिलते हैं। जो स्वभाव से भीरु है और साहसविहीन है, वह मोती नहीं पा सकता इस प्रकार एकेन्द्रिय भौतिक मोती को प्राप्त करने के लिए भी साहस वीरता और पुरुपार्थ की आवश्यकता है, तो शुद्ध आत्मगुण रूप मोतियों को प्राप्त करने के लिए कितना प्रचण्ड पुरुपार्थ चाहिए, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।

जो पुरुष सिंह होता है और उद्योगी होता है, उसी को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। जितनी अधिक मूल्यवान् लक्ष्मी हो, उसके लिए उतना ही अधिक पुरुषार्थ अपेक्षित होता है। आत्मिक लक्ष्मी संसार में सब से ज्यादा मूल्यवान् है, बल्कि अनमोल है, अतएव उसके लिए बहुत प्रयास की अवश्यकता है।

हाँ, प्रयत्न करने पर भी वही वस्तु प्राप्त हो सकती है, जिसका अस्तित्व हो। जो है ही नहीं, जिसका अत्यन्ताभाव है, वह प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। ठीक ही कहा है—

जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम्,
न हि शशक विषाणं कोऽपि कस्मै ददाति।

सारी दुनिया जानती है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है, वही दी जा सकती है, वही ली जा सकती है, उसी को प्राप्त किया जा सकता है। खरगोश का सींग अविद्यमान है, असत् है, न था, न है और न होगा तो उसे कौन किसे दे सकता है? उसका पाना असंभव है।

तो राजकुमार मृगापुत्र मुनिराज को देखते ही किसी दूसरे लोक में जा पहुँचा। उसकी विचारधारा वहाँ जा पहुँची जहाँ किसी विरले भाग्यवान् की ही पहुँच होती है। वहाँ पहुँच कर उसे मोती मिले, पर वह मोती भी साधारण ही थे। हाँ, उसे यह अवश्य विदित हो गया कि इससे भी अधिक मूल्यवान् मोती आगे हैं। आवरण दूर होने पर उसे जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। शास्त्र में कहा है—

साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणम्मि सोहणे।
मोहं गयस्स सन्तस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं॥

जाईसरणे समुप्पन्ने, मियापुत्ते महिड्ढिए ।
सरई पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥

अर्थात्-योगीश्वर मुनिराज के दर्शन से राजकुमार के परिणामों में विशेष प्रकार की विशुद्धता आ गई। उसका मोहनीय कर्म शान्त हो गया और ज्ञानावरणीय कर्म का भी विशिष्ट क्षयोपशम हो गया। अतएव उसे जातिस्मरणज्ञान प्राप्त हो गया। जातिस्मरणज्ञान प्राप्त होने पर महान् ऋद्धिशाली मृगापुत्र ने अपने पूर्वभव का स्मरण किया। उसे यह भी याद आ गया कि मैंने भी पहले मुनिदीक्षा अंगीकार की थी। यह निवृत्तिमय जीवन, इन मुनिराज की भाँति, मैं भी व्यतीत कर चुका हूँ।

जातिस्मरणज्ञान यदि प्रकर्षप्राप्त हो तो उससे पिछले नौ सौ भव-जन्म जाने जा सकते हैं; बशर्ते कि बीच में असंज्ञी पर्याय प्राप्त न हुई हो। इस ज्ञान से आत्मा की नित्यता का स्पष्ट भास हो जाता है, क्योंकि भवान्तर में गमन किये बिना पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

प्रश्न हो सकता है कि मतिश्रुति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान तो प्रसिद्ध हैं, यह जातिस्मरण नामक छठा ज्ञान फिर कौन-सा है? इसका उत्तर यह है कि जातिस्मरणज्ञान छठा ज्ञान नहीं। किन्तु मतिज्ञान का ही भेद है। मतिज्ञान के प्रधान पर्याय चार हैं, मगर उनके अन्तर्गत अनन्त पर्याय हैं। संसार के समस्त जीवों को समान्यतया मतिज्ञान होता ही है और उनके स्वरूप में किंचित् भेद भी अवश्य होता है। अन्य प्रकार का भेद न सही तो भी स्वामी के भेद से ज्ञान में भेद तो हमारी समझ में आ ही सकता है। इस प्रकार विचार करने से मतिज्ञान के अनन्त भेद समझना कठिन नहीं है।

जो मतिज्ञान आदि प्रत्येक ज्ञान के अवान्तर पर्याय अनन्त-

अनन्त हैं, तथापि मतिज्ञान और केवल ज्ञान के पर्यायों में अनन्तगुणा अन्तर है। अनन्त के अनन्त भेद हैं। सैकड़ों-सैकड़ों में भेद होता है। एक सौ भी सैंकड़ा कहलाता है और नौ सौ भी सैंकड़ा ही है। इस प्रकार संख्यात के सख्यात प्रकार हैं, असंख्यात के असख्यात प्रकार हैं और अनन्त के अनन्त प्रकार हैं।

मतिज्ञान आदि चार ज्ञान एकदेश आवरण हटने पर अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर उत्पन्न होते हैं। केवलज्ञान आवरण का सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होता है। अतएव उसमे परिपूर्णता होती है। यही कारण है कि अनन्त पर्याय होने पर भी मतिज्ञान की अपेक्षा केवल ज्ञान के पर्याय अनन्तगुणित अधिक होते हैं। सब से अधिक पर्याय केवल ज्ञान और केवल दर्शन के हैं। उन के पर्याय अलोकाकाश से भी अनन्तगुण अधिक हैं। इससे विदित होता है कि आत्मा में कितनी शक्ति छिपी हुई। वास्तव में यह आत्मा अनन्त ज्योति का अक्षय भण्डार है। उस भण्डार को प्रकट करने की आवश्यकता है। कर्मोदय के कारण वह आवृत हो रहा है और इसी कारण साधारण जीव उसके अस्तित्व से भी अनभिज्ञ हैं। परन्तु जो उसके अस्तित्व से अपरिचित हैं, उनमें भी उतनी ही ज्ञानराशि छिपी है। अवसर मिलने पर उनकी वह ज्ञानराशि भी प्रकट हो सकती है।

हाँ, तो मतिज्ञान के स्थूल भेद चार हैं—अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा। वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करने वाला और दर्शन के पश्चात् होने वाला प्राथमिक मतिज्ञान अवग्रह कहलाता है। तत्पश्चात् विशेष अंश की ओर ज्ञान का झुकाव होना ईहा है। विशेष का निश्चय हो जाना अपाय या अवाय कहलाता है। धारणा अवाय के पश्चात् होता है। इस ज्ञान के भी तीन भेद हैं—

(१) अविच्युति (२) वासना और (३) स्मृति। जो उपयोग उत्पन्न हुआ है; उसका अन्तर्मुहूर्त्त तक च्युत न होना अर्थात् लगातार उपयोग बना रहना अच्युति धारणा है। अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् उपयोग पलट जाता है और दूसरा उपयोग उत्पन्न हो जाता है, परन्तु पूर्ववर्त्ती उपयोग समूल विनष्ट नहीं हो जाता, बल्कि संस्कार के रूप में बना रहता है। वही संस्कार वासना नामक धारणा कहलाता है। कालान्तर में सदृश वस्तु के देखने से, तदनुकूल प्रकरण चल पड़ने से अथवा किसी अन्य निमित्त से उस संस्कार का पुनः उद्‌बुद्ध हो जाना—जागृत हो जाना स्मृतिधारणा है।

यह धारणाज्ञान संख्यात या असंख्यात काल तक बना रहता है और इसी कारण विशिष्ट क्षयोपशम की स्थिति में असंख्यात काल तक की पूर्व घटनाओं का जीव को स्मरण हो सकता है। जब वह स्मरण अतीत जन्मों का होता है तो उसे जातिस्मरण कहते हैं।

इस प्रकार जातिस्मरण ज्ञान कोई पृथक्‌ज्ञान नहीं है। परन्तु मतिज्ञान का ही प्रकृष्ट रूप है।

असल बात तो यह है कि मनुष्य में अचिन्त्य शक्तियां भरी पड़ी हैं। आत्मोन्मुख होने पर और साधना करने पर ही उनका पता लगता है।

तो राजकुमार के अन्तरतर में बहुत पहले से जो संस्कार दबे पड़े थे, जो भोग-विलास की वृत्ति के कारण मलीन हो गये थे और जिन संस्कारों का उसे पता भी नहीं था, मुनिदर्शन का एवं तज्जन्य अध्यवसाय विशुद्धि का निमित्त पाकर वे जागृत हो उठे उन संस्कारों के जागृत होते ही कुमार को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

जैसे कोई मनुष्य दो-चार दिन पहले देखे हुए चित्रपट को,

आँखों से ओझल हो जाने पर भी, अपनी आन्तरिक दृष्टि से, स्मृति सहारे, स्पष्ट-सा देखता है, उसी प्रकार जाति स्मरण प्राप्त कर लेने वाला जीव अपने अनेक अतीत भवों को देखने लगता है जातिस्मरण आत्मा की नित्यता का अकाट्य प्रमाण है और साथ ही संसार से विरक्ति पाने का भी एक सबल साधन है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर संसार का निस्सार स्वरूप सामने आ जाता है कामभोगों की अनित्यता एवं जीवन की भगुरता का स्पष्ट भान हो जाता है। इस कारण उनके प्रति अनुराग की कमी हो जाती है। और विराग की वृद्धि होती है।

मृगापुत्र के विषय में भी यही हुआ। उसका देशावरण दूर हुआ। पूर्वभवों का ज्ञान होने से वैराग्य उत्पन्न हो गया। अब उसे भोग खारा और योग प्यारा लगने लगा। उसने सोचा—इन कामभोगों को भोगते-भोगते कितना काल व्यतीत हो गया है! इस संसार का कौन-सा पदार्थ है जिसे यह जीव न भोग चुका हो? एक बार नहीं, दो बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार सभी भोग भोग लिये, मगर अब तक जीव को सन्तुष्टि नहीं हुई। भोगकामना वह आग है जो भोगों का ईंधन पाकर तृप्त नहीं होती, उलटी अधिकाधिक बढ़ती है। और उस आग में पड़ा हुआ जीव अनन्त संताप भोगता है। इससे बचने का एक ही उपाय है और वह यही कि इस आग पर योग का पानी डाल दिया जाय।

विवेकवान् पुरुष वही है जो भूल से विपरीत मार्ग पर चल कर भी, भूल का पता लगते ही उसे सुधार लेता है और सन्मार्ग को जान कर विपरीत मार्ग को तत्काल त्याग देता है।

'ज्ञानस्य फलं विरतिः' अर्थात् ज्ञान का फल पापों से विरत होना है। जो जान कर भी पाप का परित्याग नहीं करता, उसका

जानना किस काम का ? वह निष्फल है।

इस प्रकार विचार कर मृगापुत्र ने संयम धारण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक मुनि के दर्शन ने मृगापुत्र के जीवन के बहाव की दिशा ही बदल दी। पर मुनि तो निमित्त मात्र थे, उपादान तो उसकी निज की आत्मा थी। जब आत्मा सावधान हुई तो निमित्त भी मिल गया। यह भी कहा जा सकता है कि उपादान तो विद्यमान ही, था निमित्त मिलते ही उसमें बल आ गया। फिर भी प्रधानता उपादान की है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। मुनि को अनेकों ने देखा परन्तु उन सब को वैराग्य नहीं आया। कुम्हार बहुत कुशल है, कलाकार है, मगर मिट्टी में भी पात्र बनने की योग्यता होनी चाहिए। रेत और कंकरों से तो घट नहीं बन सकता।

जब तक आत्मा में गुणों की उज्ज्वलता नहीं होती, तब तक साक्षात् तीर्थंकर भी किसी को सुधार नहीं सकते, सन्मार्ग पर नहीं ला सकते। आँख में देखने की शक्ति न हो तो चश्मा क्या करेगा ? यहाँ तक कि सूर्य भी उसे कैसे प्रकाश दे सकेगा ? अतएव स्वयं की तैयारी हो तभी काम चलता है। शक्ति से शक्ति मिलती है और पैसे को पैसा कमाता है।

पैसे को पैसा कमाता है, यह सुन कर एक लालची ग्रामीण नगर में गया और जौहरीबाजार में पहुंचा। एक जौहरी की दुकान पर उसने रुपयों का ढेर देखा। उसे देख कर उसने सोचा-रुपया कमाने के लिए मुझे कितना परिश्रम करना पड़ता है। दिन-रात एक करनी पड़ती है। चोटी से एड़ी तक पसीना बहाना पड़ता है। बैलों के साथ बैलों की तरह ही जुतना पड़ता है। मगर बैल फिर भी आराम में हैं। उन्हे उपज आने न आने की चिन्ता तो नहीं

रहती। मुझे तो जब तक अनाज घर मे न आ जाय, निरन्तर चिन्ता बनी ही रहती है। इस प्रकार देखा जाय तो किसान बैलों से भी गया-बीता और अधिक दुःखी रहता है। कभी तैयार खड़ी फसल पर ओले बरस जाते हैं तो ऐसा लगता है कि कलेजे पर चटानें गिर कभी टिड्डीदल का हमला होता है तो कभी अतिवृष्टि पड़ी हैं। या अनावृष्टि सारे मंसूबों पर पानी फेर देती है। जमींदार बोला सयाने लोगों का कहना है कि रुपये को रुपया खींचता है। आज इस कहावत को क्यों न आज़मा कर देख लिया जाय ?

यह सोच कर उस किसान ने अपनी गांठ का रुपया जौहरी के रुपयों के ढेर में डाल दिया उसने सोचा कि मेरा रुपया जौहरी के रुपयों को खींच लाएगा और मुझे अनायास ही रुपयों का लाभ हो जायगा।

अब वह किसान खड़ा-खड़ा रुपयों के ढेर की ओर नज़र गड़ाये देख रहा है और प्रतीक्षा कर रहा है कि मेरा रुपया कब दूसरे रुपयों को खींच कर लाता है। मगर उसे आने का कोई चिह्न दृष्टिगोचर न हुआ।

जौहरी मसखरा था वह आगमबुद्धि वणिक् जो ठहरा। वणिक् बुद्धि के सामने सरकारी कानून भी एक किनारे धरे रह जाते हैं। सरकार कानून बनाती है और वणिक् उससे बचने का उपाय पहले ही सोच लेता है ! छल-छिद्र सिखाने के लिए कोई विश्वविद्यालय नहीं खुला है, न कोई पाठशाला है। यह विद्या तो उदयभाव से आप ही समझ में आ जाती है। कुसंस्कार सहज ही आ जाते हैं, सुसंस्कार सिखाते-सिखाते भी बड़ी कठिनाई से आते हैं और कभी-कभी तो आते ही नहीं हैं।

सज्जनो ! नाणा (धन) के लिए जितना परिश्रम करते हो कम

से कम उतना ही परिश्रम नाण (ज्ञान) के लिए करो। नाणा और नाण में अधिक अन्तर नहीं है, मगर यह समानता लिपि की दृष्टि से ही है। दोनों के फल में तो 'अन्तर महदन्तरम्' है। नाणा जीवन को नाना प्रकार से दूषित, भ्रष्ट और बोझीला बनाता है; जब कि नाण आत्मा को प्रकाश देता है, पथप्रदर्शन करता है और इह पर भव को सुखी बना देता है। फिर भी खेद है कि आप नाणा की ओर जितना ध्यान देते हैं, नाण की ओर नहीं देते। धन आपके जीवन का ध्येय बन गया है, परन्तु ज्ञान के प्रति उपेक्षा का भाव है।

ज्ञान-ज्ञान में भी अन्तर है। एक होता है शब्दस्पर्शी ज्ञान और दूसरा होता है मर्मज्ञान। शाब्दिक ज्ञान जब मर्मज्ञान से शून्य होता है तो वह पूरी तरह सफल नहीं होता। अतएव आपको मर्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उस किसान ने रुपया रुपये को खींचता है यह शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त किया था, मगर मर्म उसकी समझ में नहीं आया था। किन्तु आप तो 'नाणा' को ही सब कुछ समझ बैठे हैं। आप सोचते हैं कि 'नाण' से 'नाणा' में एक मात्रा अधिक है। अतएव उसकी उपयोगिता भी अधिक है। पर याद रखो कि मूल्य स्थूलता का नहीं, शक्ति का होता है। किसी ने ठीक ही कहा है—

हस्ती स्थूलतनुश्चां कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽकुन्शः ।
दीपेनापि विहन्यते तम इति किं दीपमात्रं तमः ।
वज्रेणापि पतन्ति गिरयो किं वज्रमात्रो नगः ।
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु काः प्रत्ययः ।

हाथी कितना स्थूलकाय होता है, पर छोटा-सा अंकुश भी

उस पर नियंत्रण रखता है। छोटा दीपक भी विस्तृत अंधकार को विलुप्त कर देता है। इन्द्र के वज्र से पहाड़ भी चूर-चूर हो जाता है। वास्तविकता यह है कि जिसमे तेज होता है, वही बलवान् होता है शारीरिक स्थूलता मात्र से ही कोई शक्तिशाली नहीं हो जाता।

हॉ, तो वह कृषक प्रतीक्षा कर रहा है कि कब रुपया रुपये को खींच कर लावे। वणिक् समझ गया कि यह बिना परिश्रम किये हराम का माल चाहता है। फिर भी उसने पूछा-क्या चाहते हो?

किसान—मैंने आप के रुपयों में रुपया डाला है, परन्तु वह नाणा खींच कर नहीं आया।

वणिक् ने कहा-भाई, रुपये ने रुपये को खींच लिया। बड़े-बूढ़ों की बात सत्य साबित हो गई। मेरे रुपयों ने तेरे रुपये को खींच लिया। बहुमत अल्पमत को खींचता है। हमारे रुपये अधिक थे, अतः उन्होंने तेरे रुपये को खींच लिया है। वह बिना मॉगे अपने-आप खिंच गया। अब तुम अपना रास्ता पकड़ो।

शक्ति को शक्ति खींचती है, परन्तु अधिक शक्ति हो तभी वह खींच सकती है। रेल के डिब्बे अधिक होने पर भी एंजिन को नहीं खींचते, वरन् एंजिन अकेला होने पर भी डिब्बों को खींच लेता है।

तो मृगापुत्र को आन्तरिक शक्ति से वैराग्य की प्राप्ति हुई। मुनि निमित्त थे। उपादान शक्तिशाली था तो निमित्त भी प्राप्त हो गया। इसका फलितार्थ यह है कि हमें बाहर की शक्ति के भरोसे नहीं बैठे रहना चाहिए। अमेरिका या रूस हमारी मदद करेगा, यह भरोसा न करो। परमुखापेक्षी बन कर कोई भी व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र सशक्त और सम्पन्न नहीं बन सकता। शक्ति बाहर से नहीं आती, अन्दर से प्रकट होती है। बाहर की शक्ति पर जो भरोसा

करेगा, वह समय पर धोखा खाएगा और दीवालिया साबित होगा कहा है—

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।

जो पराधीन है वह हर्गिज़ सुखी नहीं हो सकता पराधीनता अपने आपमें दुःख है।

तो मृगापुत्र की आत्मा जागी। उसमें नूतन चेतना का सचार हुआ। अन्त.करण मे वैराग्य की तरंगें हिलोरे मारने लगीं। उसे संसारिक वैभव तुच्छ दिखाई देने लगा। विपय विलास बालचेष्टा के समान प्रतीत होने लगा। अत उसने माता-पिता के निकट जाकर अपनी मनोभावना व्यक्त की और संयम ग्रहण करने की आज्ञा मॉगी।

माता-पिता अपने प्रिय पुत्र की भावना में इतना अन्तर पड़ा देख कर विस्मित हो गये और बोले-बेटा, क्या किसी ने जादू कर दिया है ?

कई लोग कहते हैं कि साधु के पास नहीं जाना ही ठीक है। वे भुरकी डाल देते हैं। परन्तु भुरकी से काम नहीं चलता। अपनी ही भुरकी लगे तो काम आती है। साधु-वृत्ति को धारण करके पालन करना बच्चों का खिलवाड़ नहीं है। यह सिंह वृत्ति है। इस पथ के पथिक को चलना ही चलना होता है, कहीं विश्रान्ति नहीं लेनी होती—

जावजीवमविस्सामो।

अन्तिम श्वास तक उसे कदम पर कदम बढ़ाये चलते रहना है। रात हो या दिन हो, उसे ठहरना नहीं है। गॉव हो या नगर हो, अरण्य हो या कुछ भी हो, उसे सर्वत्र सर्वदा जागृत रहना है। जागृत रहना ही साधुता का प्राण है। श्री आचारांगसूत्र में कहा है।

सुत्ता अमुणी,
मुणिणो सया जागरंति।

सोने वाले मुनि नहीं होते।
मुनि सदा जागृत रहते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से द्रव्यनिन्द्रा आ जाने पर भी मुनि भाव से सदैव जागता रहता है। कहा जा सकता है कि मुनी का शरीर सोता है और आत्मा जागृत रहती है। नौकर-चाकर सोते हैं, घरधनी जागता है। इन्द्रियाँ सोती हैं आत्मा अनिन्द्रिव रहता है। उसके अन्तश्चक्षु खुले रहते हैं। मुनि ज्ञान-दर्शन से सदा जागृत है।

इसके विपरीत, जो ज्ञान-दर्शन से हीन हैं, वे जागते भी सोए हुए हैं। द्रव्यानिन्द्रा से रहित होकर भी वे भाव-निन्द्रासे ग्रस्त हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

जहाँ दुनिया के लोग सोते हैं वहाँ साधु जागृत रहते हैं, क्योंकि वे विषयवासना में लिप्त नहीं हैं।

भगवतीसूत्र में सोने-जागने के संबंध में प्रश्नोत्तर आया है। प्रश्न जयन्ती श्राविका ने किया है। तीर्थंकर भागवान् के समवसरण में, जहाँ बड़े-बड़े ज्ञानी उपस्थित रहते हैं और बारह प्रकार की परिषद् होती है, एक महिला ने प्रश्न किया है! इससे भारत की धर्मसंस्कृति का हमें सहज ही आभास मिल जाता है हम समझ सकते हैं कि उस समय की महिलाएँ धर्म के मर्म को समझती थीं और देवों की उपस्थिति में भी प्रश्न करने का साहस रखती थीं।

जयन्ती श्राविका ने भगवान् से प्रश्न किया-भते ! जीव सोता भला या जागता भला ?

भगवान् ने फर्माया-कई जीव सोते भले, कई जागते भले जयन्ती ने पुनःपूछा-इसका क्या कारण है प्रभो ?

भगवान्-जो जीव सर्वविरत या देशविरत हैं, जो आत्मसाधना में सलग्न है, परोपकारपरायण हैं, वे जागते भले, क्योंकि वे जागृत रह कर स्व-परकल्याण करते हैं। किन्तु जो पापाचारी हैं, विपयसेवी हैं हिंसक हैं, चोरी करने वाले हैं जो जागकर पापाचरण में अपना समय व्यतीत करते हैं उनका सोना भला है। वे जाग कर दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं और अपना भी अहित करते हैं। उनके सोने पर ही दूसरों को शान्ति मिल सकती है। चोर जागता हो तो तुम भी नहीं सो सकते।

तो मृगापुत्र की आत्मा जागृत हो गई थी। उसे किसी की भुरकी की आवश्यकता नहीं थी। उसने कहा—

इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं॥
असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे॥
माणुसत्ते असारम्मि, वाहीरोगाण आलए।
जरामरण घत्थम्मि, खणं पि न रमामहं॥

—उत्तराध्यन १६, १२—१४

मृगापुत्र की दृष्टि में जब परीवर्त्तन हुआ तो उसे जीवन और जगत् का सत्य स्पष्ट नजर आने लगा। वह कहता है

माता-पिता ! यह शरीर क्षणभंगुर है, अशुचि है और अशुचि होना ही चाहिए, क्योंकि अशुचि पदार्थों से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। यह जीव का अल्पकालीन निवासस्थान है। सराय की तरह है और तिस पर भी नाना प्रकार के दुःखों तथा क्लेशों का पात्र है। यह शरीर पानी के फेन या बुलबुले के सदृश है जो किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। आगे या पीछे इसका त्याग करना अनिवार्य है। इस अनित्य शरीर के प्रति अब मुझे किंचित् भी अनुराग नहीं रहा है इस असार और आधि-व्याधियों के घर शरीर में और जीवन में क्षण भर भी मेरी रुचि नहीं टिकती। इसी की बदौलत जीव को जन्म-जरा मरण की पीडाएं भोगनी पडती हैं। अतएव मैं ऐसा पुरुषार्थ करना चाहता हूॅ कि सदा के लिए इस शरीर से पिण्ड छूट जाय और सब प्रकार की व्याधियॉ समाप्त हो जाएं।

माता-पिता ने मृगापुत्र को संयमजीवन की कठिनाइयॉ गिना-गिना कर भयभीत करना चाहा। कहा-बेटा, तुम सुकुमार हो, सुख मे पले, बढ़े और सुख में ही रहे हो। तुमने कभी दुःख और कष्ट की परछाई तक नहीं देखी। और सयमजीवन कठिनाइयों से परिपूर्ण है। भुजाओ से समुद्र को पार करने के समान और तराजू पर सुमेरु पर्वत को तोलने के समान श्रमणत्व का आचरण अत्यन्त दुष्कर है। यह तुम से नहीं बनेगा। अतएव प्राप्त सुखों का उपयोग करो। बाद में धर्म का आचरण करना।

मगर राजकुमार बोला-आप ठीक कहते हैं कि सयम का पालन करना सरल नहीं है, किन्तु जिनके अन्तःकरण में ससारिक वासनाऍ विद्यमान हैं, जो भोगों को भुजगम के समान नहीं समझ है, उन्हीं के लिए कठिन है। जिसने समस्त लौकिक कामनाओं से विमुक्ति प्राप्त करली है, उसके लिए सयम-पालन में कोई कठिनाई

नहीं है। मानवजीवन की वेदनाएँ नारकीय यंत्रणाओं की तुलना में क्या चीज़ हैं? इस जीव ने अनन्त वार उन यंत्रणाओं को सहन किया है, तो संयम की कठिनाइयाँ सहन कर लेना क्या बड़ी बात है?

इस प्रकार बहुत कुछ भयभीत करने पर भी जब मृगापुत्र निर्भय बना रहा और अपने संकल्प पर डटा रहा तो उसे अनुमति प्राप्त हो गई। उसके चित्त में तीव्र वैराग्य था, अतः माता-पिता की आज्ञा उसे प्राप्त हुई।

कई लोग बहानेबाजी करते हुए कहा करते हैं क्या करें, हमें आज्ञा नहीं मिलती। स्त्री-पुत्र निकलने नहीं देते। हम तो बहुत चाहते हैं मगर विवश होकर रुकना पड़ता है। पर इस प्रकार के कथन में कोई तथ्य नहीं। यह उनके हृदय की ही दुर्बलता है। तीव्र वैराग्य भाव होने पर कोई किसी को नहीं रोक सकता, मृगापुत्र को जातिस्मरण के कारण तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया था। वह संसार के यथार्थ स्वरूप को समझ गया था। अतएव उसे रोकने की किसी में शक्ति नहीं थी।

इस संसार में नाना योनियों और गतियों में परिभ्रमण करने वाले जीव को आत्मकल्याण करने का अवसर सदा नहीं मिलता। कहा है—

सदा न खूबी रहे हमेशा,
सदा यह दिल गुलजार नहीं।
सदा न जोबन रहे सासता,
सदा यह थिर परिवार नहीं।
सदा न कोयल बोली बोले,
सदा यह मौज बहार नहीं।

इम जानी जिनधर्म अराधो,
यह अवसर वारंवार नहीं ॥

सज्जनो ! आपको पूर्वोपार्जित पुण्य के योग से आज यह सुयोग प्राप्त है। लम्बा आयुष्य, नीरोग शरीर, उत्तम धर्म और सद्गुरु का सयोग मिला है। यह संयोग पाकर आपको विशेष लाभ उठाना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य वही कहलाता है जो प्राप्त अवसर से लाभ उठाता है। अवसर चूक जाने पर पश्चात्ताप करना ही शेष रहता है और पश्चात्ताप से भी कोई लाभ नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि पुण्य एकान्ततः हेय है, पर पुण्य के बिना धर्म और आत्मसाधना की सामग्री मिलना ही सभव नहीं है। पचेन्द्रिय जाति और मनुष्यगति आदि पुण्य का ही फल है और उसके बिना आत्म कल्याण की साधना नहीं हो सकती। तीर्थंकर गोत्र भी पुण्य के उदय से ही प्राप्त होता है। अतएव पुण्य का एकान्त निषेध करना जिस डाल पर बैठे हैं, उसी डाल को काटना है। जिस डाल पर मनुष्य बैठा है, यदि उसी को काट डाले तो उसका अधःपतन अनिवार्य है।

एक मूर्ख ऐसी ही डाल काट रहा था। राह चलते एक ज्ञानी पुरुष उधर से निकला। उसने कहा—अरे अजान, यह क्या कर रहा है? डाल पर नहीं, अपने पॉव पर कुल्हाड़ा चला रहा है। धड़ाम से गिरेगा और हाथ-पैर तोड़ लेगा।

मूर्खता के नशे में उसने कहा—जाओ, तुमसे किसने पूछा? जो परिणाम भोगना होगा, भोग लूँगा।

ज्ञानी पुरुष चला गया। डाली कटने पर उसे नीचे गिरना ही था। वह पत्थर पर गिरा और चोट खाकर बेहोश हो गया। जब

होश आया तो सोचा-उस पुरुष ने मुझे पहले ही चेतावनी दे दी थी। निश्चय ही वह ब्रह्मज्ञानी होना चाहिए। अन्यथा भविष्य की बात किस प्रकार जान लेता ?

यह सोच कर वह उसके पास गया और बोला-महाराज, आप तो ब्रह्मज्ञानी हो।

उसने उत्तर दिया—नहीं भाई, मैंने तो अनुमान से जान कर ही तुम्हें सावधान किया था !

तो हड्डियाँ टूटने पर उसे ब्रह्मज्ञानी याद आए !

सार यह है कि पुण्य का निषेध करने वाले भ्रम में है। पुण्य के बिना आत्मकल्याण की सामग्री नहीं मिलती। मृगापुत्र को जो सामग्री मिली थी, उसका सदुपयोग करके उसने आत्मकल्याण किया।

तो अरिहन्त भगवान् ने संसारी जीवों की विविध व्याधियों का निदान जान कर जो औषध बतलाई है उसका सेवन करने से ही जीव भव-रोग से मुक्ति पा सकता है। भगवान् की दवा आधुनिक डाक्टरों की दवा नहीं है कि प्रयोग पर प्रयोग किये जाएँ और जो लग गया तो तीर नहीं तो तुक्का ही सही। वह अमोघ औषध है और जो भव्य प्राणी उसे भली भाँति जान कर, उस पर श्रद्धा रख कर, सेवन करते हैं, अवश्य ही उनका कल्याण होता है। वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

राजकोट,
३१-७-५४

सिद्धि-सोपान

उपस्थित महानुभावो !

कतिपय दिनों से आत्मा के तीन दोषों-राग, द्वेष और मिथ्यात्व के संबंध में बतलाया जा रहा है। कहा जा चुका है कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व आत्मा के गुणों का हनन करने वाले हैं। किन्तु यह बात नहीं है कि इनके सामर्थ्य के आगे आत्मा का सामर्थ्य कुछ काम ही न आता हो। निस्सन्देह यह दोष प्रबल हैं, किन्तु आत्मा में भी अनन्त बल-वीर्य विद्यमान है। जब निमित्त पाकर आत्मा का बल प्रकट होता है तो यह दोष निर्बल हो जाते हैं और अन्त में निस्सत्त्व भी कीये जा सकते हैं। किन्तु आत्मबल की वृद्धि के लिए और इन दोषों का ह्रास एवं विनाश करने के लिए तीन गुणों की अराधना आवश्यक है और वे गुण हैं—सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र।

एक बात ध्यान रखने योग्य है। जब तक राग, द्वेष और मिथ्यात्व का आत्मा पर आधिपत्य बना रहता है और इनकी प्रबलता रहती है तब तक आत्मा की शक्ति नहीं बढने पाती। जब तक शरीर में ज्वर रहता है तब तक कितनी ही बलवर्द्धक औषधियों का सेवन किया जाय, बल की वृद्धि नहीं हो पाती।

आत्मा अनादिकाल से नाना प्रकार की क्रियाएँ करता आ

रहा है। इसने सैकड़ों प्रकार के अनुष्ठान किये हैं कठिन से कठिन तपश्चर्या की है, मगर इससे आत्मिक गुणों का जितना संचय होना चाहिए, नहीं हो सका और आत्मा का निस्तार भी नहीं हो सका। इसका प्रधान कारण यहाँ त्रिदोष है। आत्मा इस त्रिदोष रूप ज्वर से आक्रान्त और सतप्त बना हुआ है, इस ज्वर का अभी तक उतार नहीं आया, इसी कारण आत्मा में आत्मिक गुणों की वृद्धि नहीं हुई है।

जब यह त्रिदोष रूपी ज्वर आत्मा से निकल जाएगा तो तपस्या आदि क्रिया अपना फल अवश्य दिखलाएगी और आत्मिक बल की वृद्धि होती चली जाएगी और अन्त मे केवलज्ञान-दर्शन की शक्ति प्रकट हो जाएगी।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित यह आत्मा रूपी सुभट जब कर्मशत्रुओं के सामने संग्राम में उतरता है तो उसे विजय की प्राप्ति होती ही है। जैसे शूरवीर योद्धा शत्रुसैन्य में प्रवेश करके कुहराम मचा देता है और अपने अदम्य उत्साह, पराक्रम रणकौशल और बल से शत्रुओं के छक्के छुड़ा देता है, और उन्हें पराजित करके भगा देता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मरिपुओं से जूझता है। जब यह आत्मा भूखे शेर की तरह सर्वस्व की बाजी लगा कर, प्राणप्रण से जुट जाता है तो शत्रुओं को भाग छूटने के सिवाय और कोई चारा ही नहीं रह जाता।

आत्मा सब से पहले शत्रुओं के सिरमौर चार शैतानों पर ही विजय प्राप्त करता है, जिन्हे शास्त्रीय परिभाषा मे घनघातिया कर्म कहते हैं और जो सब से अधिक ऊधम मचाने वाले हैं तथा आत्मा को दुःख देने वाले हैं। जो शैतानों के सिरमौर होते हैं, उन्हीं को सब से पहले कब्जे में किया जाता है।

जब यह चारों कर्म-शत्रु मैदान छोड़ कर भाग जाते हैं। तब चार कर्म-शत्रु ही अवशिष्ट रह जाते हैं, जिन के नाम हैं- नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीय कर्म और आयुकर्म।

नाम कर्म इस—कर्म का दायरा बहुत लम्बा-चौड़ा है। जैसे कारीगर नानाप्रकार की आकृति वाले खिलौने बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म नाना प्रकार के शरीरों का निर्माण करता है। मनुष्य आदि गतियां, एकेन्द्रिय आदि जातियाँ, त्रस-स्थावरपन, सूक्ष्मता बादरता आदि-आदि सब इसी कर्म के उदय के फल हैं।

संसार में जो नाम रक्खे जाते हैं, वे सांकेतिक नाम हैं, क्योंकि नाम रख लेने से किसी पदार्थ, व्यक्ति या जगह का बोध सुगमता से हो जाता है। संकेत के कारण हम झट उस वस्तु को समझ लेते हैं। मगर यह नाम वास्तव में कल्पित होते हैं। इन नामों का उस वस्तु के असली गुण-धर्म से कोई लगाव हो, यह आवश्यक नहीं है। आज एक व्यक्ति हिन्दू है तो उसका नाम हिन्दू जैसा ही होता है, जैसे रामप्रसाद, हनुमानदास या राधेश्याम आदि। कल परिस्थितिवश इन नामों में से कोई नाम वाला यदि मुसलमान बन जाय या बना लिया जाय तो वह इब्राहीम या अब्दुल्ला के नाम से पुकारा जाता है। यदि वहि सिख बन जाता है तो तेजासिंह कहलाने लगता है। इस प्रकार की यह संज्ञाएँ केवल कल्पित हैं। इनका नामकर्म के उदय से संबंध नहीं है। नाम कर्म का काम दूसरी तरह का है।

नामकर्म की ६३ प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं, अर्थात् ६३ ऐसे पर्याय-भाव हैं जो नाम कर्मोदय के परिणाम हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, आदि सर्व पर्याय,

नाम-कर्म के उदय के ही फल हैं, ये मनुष्य की इच्छा के अनुसार नहीं पलट सकते। इनमें कोई फेरफार करना चाहे तो नहीं कर सकता।

जिसका बनाना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, वह मनुष्य की इच्छा से मिट भी सकता है, मगर जो भाव मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है और कर्मोदय से उत्पन्न हुआ है, वह कैसे मिटाया जा सकता है? मनुष्य रामप्रसाद से अब्दुल्ला बन सकता है, किन्तु अपनी इच्छा से देव बनने के कर्म किये बिना कोई भी देव नहीं बन सकता। अगर ऐसा होता तो तिर्यंच कौन बना रहना चाहता? सभी देव या मनुष्य बनने के इच्छुक हैं तो जीते जी ही देव या मनुष्य बन जाते। पर ऐसा सभव नहीं है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के सब जीव एकेन्द्रिय हैं। इन्हे नाम कर्म के उदय से सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय ही मिली है। जिन जीवों को स्पर्शनेन्द्रिय के साथ रसेन्द्रिय भी प्राप्त हुई है वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीव अपनी इच्छा से जीवित ही द्वीन्द्रिय नहीं बन सकता। यह बात दूसरी है। कि मृत्यु के पश्चात् उसे द्वीन्द्रिय नाम कर्म का उदय हो और वह द्वीन्द्रिय हो जाय। ऐसा हो सकता है, पर यह किसी के चाहने मात्र से नहीं हो सकता।

इस प्रकार जिन जीवों को एकेन्द्रिय नाम कर्म का उदय है वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं, जिन को द्वीन्द्रिय नाम कर्म का उदय है और इस कारण जिन्हे दो इन्द्रियाँ प्राप्त हैं वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीव ने द्वीन्द्रिय नाम कर्म नहीं पाया, अतएव वह द्वीन्द्रिय नहीं कहलाता। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जीव त्रीन्द्रिय नाम कर्म न पाने के कारण त्रीन्द्रिय नहीं कहलाएगा। इस तरह यह जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि नाम हैं, वह सब नाम कर्म के दिये हुए हैं, और जीवन पर्यन्त

इनमें कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

गति के लिहाज़ से कोई जीव नारक, कोई तिर्यंच, कोई मनुष्य और कोई देव कहलाता है। नरक के सम्बन्ध के कारण जीव नारक कहा जाता है। देवयोनि में जन्म लेने वाले को देव कहते हैं। मनुष्य गति नाम-कर्म के उदय से जिसने मनुष्य भव पाया है, वह मनुष्य कहलाता है और तिर्यंच भावी नाम कर्मोदय के कारण तिर्यंच संज्ञा प्राप्त करता है। यह नाम, जो नाम कर्मोदय से उत्पन्न हुए हैं, इच्छा करने मात्र से नहीं मिटते।

तात्पर्य यह है कि जो नाम नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं, वे तब तक नहीं मिट सकते जब तक उस नामकर्म का उदय रहेगा। मगर मनुष्य द्वारा कल्पित नाम जब चाहें तभी मिटाये जा सकते हैं।

दीपावली का त्यौहार आता है तो हलवाई लोग मिठाई के खिलौने बनाते हैं। विभिन्न प्रकार की आकृतियों वाले सांचे होते हैं और उनमें चासनी डालने से उस आकृति के मिठाई के खिलौने ढल जाते हैं। तत्पश्चात् उन खिलौनों को हाथी घोड़ा, आदमी, गणेश, हार आदि-आदि संज्ञाएँ प्रदान की जाती हैं। जिस वस्तु का नाम पहले शक्कर चीनी था, उसी का नाम चासनी हो गया और फिर आकृति बदलते ही हाथी, घोड़ा गणेश आदि नाम हो गया। किन्तु वास्तविक रूप में देखा जाय तो खाड न हाथी है, न घोड़ा है, न गणेश है, न कुछ और है।

शक्कर तो मूल में शक्कर ही है, फिर वह किसी भी आकृति में क्यों न हो। उसका स्वभाव माधुर्य है और वह प्रत्येक आकृति में बना रहता है। आकृति के परिवर्त्तन से उसके स्वभाव में परिवर्त्तन नहीं होता। आकृति टेढ़ी-मेढ़ी हुई है परन्तु उसके मिठास में टेढ़ा-बांकापन नहीं आता। वह आ भी नहीं सकता।

जब विवाहविधि होती है तो पण्डित जी महाराज पहले गणेश जी की आवश्यकता बताते हैं। यदि गणेश जी की मूर्त्ति नहीं मिलती तो फिर गुड़ की डली पर मौली बाँध कर मंत्र का उच्चारण करते हैं। क्योंकि बने बनाये गणेश जी नहीं मिले तो गुड़ पर ही धागा बाँध कर गणेश जी की कल्पना कर ली! मगर कल्पना ही है। उसमें वास्तविकता नहीं होती।

गणेश जी को बने थोड़ी देर हुई कि पण्डित जी बोले-जजमान, धर गणेश जी का टका।

वहीं बैठा हुआ पण्डित जी का लड़का भी यह दृश्य देख रहा था। जब विवाहविधि सम्पन्न हो चुकी तो उस चढ़ावे को और उस गुड़ की डली को लेकर पंडित जी घर पर आ गये। पंडित जी ने धागे को तो हटा कर फैंक दिया और गुड़ की डली को खा गये।

लड़का यह नज़ारा भी देख रहा था। उसने अपनी माता से कहा माँ, अरे माँ, देख तो सही, पिताजी तो गणेश जी को खा गये।

तब पंडित जी बोले—नादान, वह तो गुड़ की डली थी।

लड़के ने कहा—पिता जी, वहाँ तो आप जल्दी जल्दी गणेश जी का नाम लेकर टका माँगते थे और यहाँ उन गणेश जी को ही गटक गये!

तो सज्जनों! दुनियादार तो जबर्दस्त होते हैं। मर्ज़ी हो तब देव बना लें और मर्ज़ी हो तब बेच खाएँ इसी प्रकार वे अपना काम निकालते हैं।

तात्पर्य यह है कि कल्पना कल्पना ही है, उस में वास्तविकता नहीं आती। जो कल्पित नाम हैं, वे मनुष्य की इच्छानुसार बनते-बिगड़ते रहते हैं, पर नाम कर्मोदय से प्राप्त। नाम उस की विद्यमानता

में नहीं बदल सकता।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि, त्रस, स्थावर सूक्ष्म, बादर, तिर्यंच मनुष्य, देव आदि नाम, नाम कर्मोदय से हैं। हम बादर जीवों को तो देख सकते हैं। किन्तु सूक्ष्म जीवों को आँखों से नहीं देख सकते। उन्हें केवल ज्ञानी जानते और देखते हैं। वे सूक्ष्म जीव इस समस्त लोकाकाश में काजल की कुप्पी की भांति भरे हुए हैं, उन्हे हम शास्त्रप्रमाण के आधार से ही जान सकते हैं।

इस प्रकार नामकर्म की ६३ प्रकृतियां हैं। विस्तार भय और समयाभाव के कारण उन सब का परिचय अभी नहीं दिया जा सकता, तथापि जिज्ञासु जनों को यह विषय जानने योग्य है। कर्म सिद्धान्त अध्यात्मशास्त्र के अन्तर्गत है और आत्मकल्याण करने की इच्छा रखने वालों को इस का परिचय अवश्य होना चाहिए।

मगर आप लोगों का जीवन तो धन दौलत के लिए ही समर्पित है। सोते-जागते आप को एक मात्र धन का ही ध्यान रहता है। आत्मा की ओर से आप पूरी तरह निश्चिन्त हैं, मानो धन की बदौलत ही आप अधोगति से बच जाएँगे और सुगति प्राप्त कर लेंगे। कितने आश्चर्य का विषय है सज्जनो! आप को जिस की आराधना करनी चाहिए उस की ओर तो ध्यान ही नहीं देते और जो वस्तु भविष्य में लेश मात्र भी सहायक नहीं हो सकती, यही नहीं, जिस के कारण आत्मा का अधःपतन होता है, उस के लिए समग्र जीवन समर्पित कर दिया है, यह विवेकशीलता नहीं है। ऐसा करने में तनिक भी बुद्धिमत्ता नहीं है। वास्तविकता को पहचानो, सही तरीके से विचार करो, कल्याण के मार्ग पर आओ। सोचो कि आप के लिए हितकर

क्या है और अहितकर क्या है ?

देखो, अनमोल अवसर बीत रहा है। वर्त्तमान छोटा और भविष्य बड़ा है। आगे चल कर भविष्य से ही पाला पड़ेगा। आज जो भविष्य है, वही कल वर्त्तमान के रूप में आप के साथ होगा। उस समय आप की क्या दशा होगी ? यह विचार कर सद्व्यवहार करोगे। तो सुखी होओगे।

इस प्रकार विचार करके जो भव्य जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करते हैं, वे क्रमशः अपने आत्मगुणों को विकसित करते हुए चार घनघातिया कर्मों का विनाश कर डालते हैं। उनके सिर्फ चार अघातिया कर्म ही शेष रहते हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले जीव पंचेन्द्रिय हैं, त्रस काय में हैं, बादर हैं, पर्याप्त हैं, अमुक संहनन और संस्थान से युक्त हैं, यह सब नाम कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं। इन के अतिरिक्त और भी अनेक नाम कर्म की प्रकृतियों का उनमें उदय रहता है।

नामकर्म के अतिरिक्त उच्चगोत्री होने के कारण उनमें गोत्रकर्म भी विद्यमान है। जीवित होने के कारण उन्हें आयु कर्म का भी उदय है।

केवल ज्ञानी मनुष्यात्माएं केवल ज्ञानी के रूप में कुछ कम करोड़ पूर्व काल तक रह सकते हैं। आठ वर्ष झाझेरी उम्र में दीक्षा ली जा सकती है और यदि पूर्ववर्त्ती जन्म-जन्मान्तरों में कर्मों की निर्जरा की हुई हो और इस कारण आत्मा मंजी हुई हो तो इतनी ही अर्थात् ८ वर्ष की उम्र में केवल ज्ञान की प्राप्ति भी हो सकती है। अतएव उनमें आयु कर्म की विद्यमानता है।

केवल ज्ञानी में वेदनीय कर्म भी मौजूद हैं। तेरहवें गुणस्थान में ग्यारह परिषद हो सकते हैं। उन्हें भूख भी लगती है।

यह वेदनीय कर्म के बिना संभव नहीं है। इस प्रकार वहाँ वेदनीय कर्म की भी सत्ता रहती है।

जब तेरहवां गुणस्थान पूर्ण हो जाता है और अरिहन्त भगवान चौदवें गुणस्थान की उच्चतम श्रेणी पर आरूढ़ होते हैं तो क्या होता है।

उस गाड़ी को वहां ठहरना तो है नहीं वह तो जंक्शन पर ही ठहरती है। न वहीं समाप्त हो जाती है और न वापिस लौटती है। यहां सरीखा हाल वहां नहीं है। यहां तो चढ़ाव उतार होता रहता है मगर तेरहवें गुणस्थान पर पहुंच जाने के पश्चात उतार के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। तेरहवें गुणस्थान में से आगे बढ़ने का ही मार्ग है। जिस को केवल ज्ञान-दर्शन का लाभ हो चुका है, वह निश्चित रूप से उसी भव में मुक्ति प्राप्त करेगा। तब उस आत्मा की क्या स्थिति होती है।

जितना आयुकर्म अवशेष था, वह तेरहवें गुणस्थान में भोग लिया। जब अन्तमुहूर्त्त काल शेष रहा तो गाड़ी आगे चली। अब एक ही स्टेशन बाकी रह गया है, १३ स्टेशन उसने पार कर लिये हैं। इसमें से ग्यारह स्टेशनों तक को गाड़ी आती भी है और वापिस जाती भी है, मगर बारहवें स्टेशन पर पहुँच न जाने के पश्चात् आने-लौटने का कोई रास्ता नहीं है। फिर तो आगे ही आगे जाने का एक ही मार्ग बच रहता है। छटे गुणस्थान के पश्चात् लम्बे समय तक ठहरने योग्य सिर्फ तेरहवाँ गुणस्थान है। यदि आयुकर्म लम्बा हो तो उसमें रह कर वह काल पूरा करना होता है। यदि लम्बा न हुआ तो उसे भी शीघ्र ही पार करके चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किया जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में तीनों योग विद्यमान रहते हैं और इस कारण शुभ प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। वह शुभ प्रवृत्तियाँ भी मोक्ष में

प्रतिबन्धक होती हैं। क्योंकि लोहे की बेड़ी भी बेड़ी है और सोने की बेड़ी भी आखिर बेड़ी ही है, वह भी बन्धन रूप है। अतएव केवलज्ञानी को वह शुभ प्रवृत्तियाँ भी मोक्ष में जाने से रोके रहती हैं।

मुक्ति प्राप्त करने केलिए शुभ प्रवृत्तियों का निरोध करना भी अति आवश्यक है। अतएव वह केवल ज्ञानी आत्मा मन, वचन, काय के उस स्पन्दन और स्फुरण को भी रोकने के लिए प्रयत्न करता है।

मोक्ष प्राप्त करने केलिए न केवल काययोग का,वरन् वचन योग का, सांस का भी और मनोयोग का भी पूर्ण निरोध करना अनिवार्य है। जब तेरहवें गुणस्थान को छोड़ कर आत्मा चौदहवें गुणस्थान पर आरूढ़ होता है तो उसमें अत्यन्त सूक्ष्म निगोद के अपर्याप्त जीव के काय योग का जितना हल्का स्पन्दन होता है, तेरहवें गुणस्थान के अंत समय में उतना हल्का-सा स्पन्दन रह जाता है। मगर चौदहवें गुणस्थान में उसका भी निरोध हो जाता है।

सज्जनों! परमात्मदशा यों ही प्राप्त नहीं होजाती इसे प्राप्त करने के लिए अत्युग्र साधना अपेक्षित है। तो चौदहवें गुणस्थान में सूक्ष्म निगोद के पर्याप्त जीव के बराबर भी हलत-चलत नहीं रहती। तब आखिर पूर्ण मुक्त दशा प्राप्त होती है।

हाँ, तो तेरहवें गुणस्थान में जब आयु का अन्त निकट आया तो अर्हन्त प्रभु अपना एंजिन आगे चलने के लिए स्टार्ट-रवाना-करते हैं। तब वह योगों को रोकते हैं और शुभ कर्मों की प्रवृत्तियों को भी वश में करते हैं। वे शुक्लध्यान के तीसरे पाद में प्रवेश करके और उसे पार करके जब चौथे पाद में अवतीर्ण होते हैं तो उन की अवस्थापूरण अडोल हो जाती है।

शुक्लध्यान के चौथे पाये पर आरूढ़ होकर आत्मा जब मजबूती

के साथ पैर जमाता है तो सब से पहले मन को पकड़ता है और उसके निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के स्पन्दन को रोक देता है। तत्पश्चात् वचन योग का निरोध करता है।

इस के अनन्तर काय योग की बारी आती है। जब तक शरीर में शारीरिक क्रियाएँ होती रहती हैं, तब तक श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी होती है। और जब शारीरिक क्रियाओं का निरोध हो जाता है तो उसका भी निरोध हो जाता है।

बिजली का पंखा विद्युत्शक्ति के सहारे घूमता है। जब तक बिजली है तब तक पंखा भी घूमता रहता है और जब बिजली बंद हो जाती है तो पंखे की गति भी स्वतः बंद हो जाती है। इसी प्रकार जब योगों की क्रिया में योग रूपी विद्युत् का करेंट चालू था, तब तक वह क्रिया चालू रही और जब करेंट बंद हो गया तो श्वासोच्छ्वास भी बद हो गया।

इस प्रकार मन, वचन और काय के योगों का जब निरोध हो गया तो परमयोग की सिद्धि हो गई। यही महान् योगसाधना है।

कई लोग कहते हैं —क्या यह मनुष्य श्वास भी रोक सकता है? इसका उत्तर यही दिया जाएगा। कि हाँ, रोकता है मगर उचित समय पर रोकता है। कोई भी सिद्धि साधना से ही प्राप्त होती है, साधना के बिना नहीं प्राप्त हो सकती।

हाँ, तो केवली भगवान् ने तेरहवें गुणस्थान से भी ऊपर उठ कर चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किया। सयोग दशा को पार करके अयोग अवस्था प्राप्त की। मन, वचन, काय के स्पन्दन को समाप्त कर दिया। सुमेरु के समान आत्मप्रदेशों को अचल बना लिया। पूरी तरह आत्म निष्ठा प्राप्त कर ली। मगर यह सब करने में कितना समय लगता है?

स्वर अक्षर तीन प्रकार के होते हैं—ह्रस्व दीर्घ और प्लुत।

जिस के उच्चारण में एक मात्रा-काल विशेष लगे वह ह्रस्व कहलाता है। दीर्घ स्वर का उच्चारण करने में उससे दुगना समय लगता है और प्लुत के उच्चारण में तिगुना समय लग जाता है।

दीर्घ और प्लुत स्वरों के उच्चारण को छोड़ कर यहाँ ह्रस्व उच्चारण ही ग्रहण करना चाहिये। अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, बस उतना ही समय चौदहवें गुणस्थान में लगता है। हाँ, यह ध्यान रखना है कि इन स्वरों के उच्चारण का वेग न धीमा हो और न तीव्र ही हो। मध्यम रूप से उच्चारण करने में जो समय लगता है, उतना ही समय चौदहवें गुणस्थान में लगता है।

इस प्रकार स्वल्प काल में ही वे केवली भगवान् अयोगी हो जाते हैं। ध्यान रहे कि अयोगी स्थिति प्राप्त कर लेना ही योग की पराकाष्ठा है। यही स्थिति साक्षात् मुक्ति का कारण है। इस अवस्था में आत्मा पूर्ण रूप से निस्पन्द, निश्चेष्ट, स्वरूपमय, निराबाध्य हो जाता है। यह स्थिति प्राप्त होने पर शेष रहे हुए चार अघाति कर्म भी एक साथ क्षीण हो जाते हैं।

यों तो प्रत्येक कर्म अपना-अपना कार्य करता ही है तथापि अघाति कर्मों को बल प्रदान करने वाले घनघातिया कर्म हैं। जब वह नहीं रहते तो अघातिया कर्म निर्बल, निस्सहाय से हो जाते हैं। जली हुई रस्सी के समान जान पड़ते हैं जो हवा लगते ही राख के रूप में उड़ जाती है। चौदहवें गुणस्थान में चौथे शुक्लध्यान की हवा लगते ही वे उड़ जाते हैं और तब आत्मा समस्त कर्मों से रहित हो जाता है।

सज्जनों! जो कर्म अनादि काल से चले आते थे और आत्मा की दुर्गति कर रहे थे, जिन के प्रभाव से आत्मा अपने अनन्त चैतन्य चमत्कार से वंचित हो रहा था, अपनी आत्मिक सम्पत्ति को भूला

हुआ था, अनन्त-अनन्त काल से जन्म-जरा-मरण, आधि, व्याधि, उपाधि का पात्र बन कर नाना प्रकार के क्लेशों का भाजन बना था, जिन कर्मों के प्रभाव से आत्मा अपने स्वरूप को भी नहीं पहचान पाता था, जिन्हों ने राजा को रक से भी बदतर बना रक्खा था, अनन्त आनन्द के बदले अनन्त संताप में डाल रक्खा था, उन कर्मों का क्षय होने पर आत्मा में अनूठा ही चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में यद्यपि पूर्ण चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है, तथापि वह आत्मा निर्वाण नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि आयु कर्म रूपी खोड़े में बंद रहता है। जब तक इस खोड़े में है तब तक अपने घर कैसे जा सकता है ? आयु कर्म खोड़े के समान ही है। वह जीव को काया के कारागार में कैद कर रखता है। इसके साथ नाम कर्म, गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म भी लगे थे। जब चाबी समाप्त हुई तो घड़ी का चलना भी बंद हो गया। सब मामला समाप्त हो गया। आयु कर्म के साथ तीनों अघातिया कर्म भी समाप्त हो गये। एक बहुत बड़े और लम्बे नाटक की पूर्णाहुति हुई। साधना सिद्धि के रूप में परिणत हो गई। आत्मा चिरकाल से जिस प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए प्रयत्नशील था, वह प्रयोजन पूर्ण हो गया। उसे कृतकृत्यता प्राप्त हो गई। अब कुछ भी करना शेष न रहा।

नाम कर्म के नष्ट हो जाने पर तैजस और कार्मण शरीर भी, जो अनादि काल से जीव का पिण्ड ही नहीं छोड़ते थे और एक भव से दूसरे भव में जाते समय भी चिपटे रहते थे, अब नहीं रह जाते। अतएव आत्मा अशरीर हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान के आगे की जो महायात्रा है, वह अशरीर होने पर ही की जा सकती है। ऊँचाई पर चढ़ने के लिये बोझ त्यागना ही पड़ता है।

माथे पर भार लाद कर आप पर्वत पर भी नहीं चढ़ सकते तो ठेठ लोकाकाश के अग्रभाग की ऊंचाई पर पहुँचने के लिये बोझा हटाना ही पड़ेगा। सूक्ष्म बोझ होने पर भी सिद्धि पद प्राप्त नहीं होता। अतएव तैजस और कार्मण जैसे सूक्ष्म शरीर भी जब छूट जाते हैं तभी उस परमपद की ओर प्रस्थान होता है।

तोता उड़ जाना,
कर ले जतन हजार, तोता उड़ जाना।

सज्जनों! अब उस तोते को उड़ ही जाना है। पिंजरा छिन्न-भिन्न हो गया, कोई बन्धन नहीं रहा। फिर तोता उड़ेगा क्यों नहीं?

पर तोता उड़ भी गया तो क्या हुआ? एक पींजरे को छोड़ कर उड़ा तो दूसरे में चला गया। ऐसे उड़ने में क्या रक्खा है। इस उड़ने में क्या लाभ है? उड़ने का मजा तो तभी है जब सदा के लिए स्वच्छन्द हो जाये और किसी दूसरे पींजरे में न पड़ना पड़े।

चौदहवें गुणस्थान के बाद की जो उड़ान होती है, वह ऐसी ही होती है। वह किसी दूसरे पींजरे में बन्द होने के लिए नहीं है। वह स्वाधीनता की उड़ान है और सदा के लिए मुक्ति की उड़ान है।

इस जीव ने हताश जीवन के कितने ही पींजरे बनाये थे। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा पींजरा बनाता ही रहा। इसे कभी स्वछन्द विचरण करने का अवसर नहीं मिला था। एक पींजरे से उड़ा तो दूसरे में बंद होना पड़ा और दूसरे से उड़ा तीसरे में कैद हो गया। और क्यों न ऐसा होता? अपराधियों की सूची में उसका नाम जो लिखा था। जब तक उस सूची में से नाम न निकल जाय तब तक कहीं भी गिरफ्तारी

हो सकती है। लाल पगड़ी वाले हर जगह तैयार मिलेंगे और कोतवाली में जाकर हाजिरी देनी होगी। और वहाँ तो हाजिरी देनी ही होगी, क्योंकि यहाँ हाजिरी नहीं देते हो।

तो अभी तक जीव रूपी तोता शरीर रूपी पींजरे में रहा अब पींजरा सदा के लिए टूटा अर्थात् समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों का अन्त हुआ। अतएव वह एकदम ऋजुगति से सीधा अपने लक्ष की ओर गमन करता है। टेढा-बांका होकर नहीं जाता है। उर्दू के शायर ने कहा है —

ज़िंदगी एक तीर है, योंही न जाए राएगां।
पहले निशाना बांध लो, फिर पीछे से खींचो कमां।

शायर कहता है कि यह जीवन एक तीर की तरह है। देखो, यह फिजूल न चला जाय। इस तीर को व्यर्थ न फेंक देना। जहाँ दुशमन का जोर होगा और प्राणों पर संकट आएगा, वहा यह काम आएगा। इस की बदौलत प्राणों की रक्षा होगी।

तो करना क्या चाहिये? शायर कहता है-सब से पहले अपना लक्ष्य स्थिर कर लो, निशाना निश्चित कर लो। जहाँ तीर लगाना है उस स्थान को तय कर लो। फिर कमान को खींचो। अगर समय से पहले ही खींच लोगे तो तीर और परिश्रम व्यर्थ चला जाएगा।

तो जीवन का लक्ष्य क्या है? समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना। इस लक्ष्य को निश्चित कर लो और दृढ़ संकल्प कर लो कि हमें अपना लक्ष्य प्राप्त करना है और अवश्य ही करना है और हर कीमत पर करना है। जब आपका लक्ष्य निश्चित हो जाएगा और सदैव वह नजर के सामने रहेगा तो आपमें अनायास ही एक विशेष प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न होगी। फिर आप ऐसा कोई काम नहीं करेंगे

जो उस लक्ष्य से विरुद्ध हो और जिसके कारण लक्ष्य और अधिक दूर हो जाय।

सच पूछो तो यही लक्ष्य स्थिर होने की कसौटी है। जो मनुष्य अपने बन्धनों को अधिक प्रगाढ़ बनाने वाला व्यवहार करता है, समझना चाहिए उसका लक्ष्य अभी स्थिर हुआ ही नहीं है। लक्ष्य की स्थिरता होने पर ससारिक प्रपचों का त्याग सर्वथा भले हो न हो, परन्तु उनमें एक प्रकार की अलिप्तता अवश्य उत्पन्न हो जाती है। कहा है—

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुंब प्रतिपाल।
अन्तस सौं न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

जिसकी दृष्टि समीचीन हो चुकी है, जिसने अपना लक्ष्य निश्चित कर लिया है, वह परिवार में बसता हुआ और परिवार का पालन-पोषण करता हुआ भी अन्तरग में सब से पृथक् रहता है। लिप्त और आसक्त नहीं होता। उसकी वह क्रियाएँ कर्त्तव्य से प्रेरित होती हैं, आसक्ति से प्रेरित नहीं होतीं। धाय अपनी स्वामिनी के बच्चे को खिलाती है, नहलाती-धुलाती है, दूध भी पिलाती है, पर भीतर में समझती रहती है कि यह अपना नहीं, पराया है।

कितनी सुन्दर उपमा है सम्यग्दृष्टि के जीवन की, कितना भव्य चित्र है। इससे स्पष्ट है कि जैनशास्त्र सम्यक्दृष्टि गृह जीवन को भी एक मर्यादित सुन्दर जीवन मानता है संसार में रह कर भी उसमें आसक्त नहीं हो जाना चाहिए। पर पदार्थों में इतना लिप्त नहीं होना चाहिए कि अपना आपा भी विसर जाय।

जब ऐसी स्थिति जीवन में आ जाती है तभी समझना चाहिए कि मिथ्यात्व हट गया है, सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है,

अर्थात् लक्ष्य स्थिर हो गया है।

इस अवस्था को प्राप्त कर लेने वाला मनुष्य टेढ़ा-बांका नहीं चलेगा। कभी ४२० करने का विचार भी नहीं करेगा। कहना कुछ और, करना कुछ और तथा सोचना कुछ और, इस प्रकार की यौगिक वक्रता उसमें स्थान नहीं पा सकती।

जो इस प्रकार की वक्रता को आश्रय देता है और छल-कपट करता है, वह मुक्ति नहीं पा सकता। अतएव अगर मोक्ष में जाना है तो निन्दा, चुगली आदि त्यागो और सरलता धारण करो। सीधा जाना है तो सीधे बन जाओ। वक्रगति वाले को त्रिकाल में भी मोक्ष मिलने वाला नहीं।

शास्त्र में बतलाया है कि धर्म किस के हृदय में निवास करता है?

सोही उज्जुभूअस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ

जिसका चित सरल है, निष्कपट है, वही शुद्धि प्राप्त कर सकता है और जो यह शुद्धि प्राप्त कर लेता है उसी के अन्तःकरण में धर्म ठहरता है।

तो धर्म की आराधना के लिए सरलता आवश्यक है और सरलता लाने के लिए छल-कपट का परित्याग करना आवश्यक है। छल करने वाला अन्त में स्वयं अपने छल से छला जाता है। कपटी स्वयं अपने छल का शिकार होता है।

तो मोक्षगामी आत्मा सीधी गति से जाएगी जिस श्रेणी से वह चली है; उसी श्रेणी से जाएगी। वह इधर-उधर नहीं होगी।

हाँ, तो चौदहवें गुणस्थान से आत्म गाड़ी छूटी यहाँ से मोक्षका फासला तो लम्बा है। किन्तु बन्धनों से सर्वथा विमुक्त होने के कारण आत्मा में इतना तीव्र वेग उत्पन्न हो जाता है कि उस फासले को भी

वह सिर्फ एक समय में तय कर लेती है।

एक समय! कितना सूक्ष्म है यह कालमान ? आँख मींचने में असंख्यात समय गुजर जाते हैं। तो आँख के पलक गिराने में जितना समय लगता है, उसका मात्र असंख्यातवाँ भाग समय मुक्तात्मा को लोकाग्र तक पहुँचने में लगता है। एक ही समय में वहाँ पहुँच जाने पर वह मुक्तात्मा सिद्धशिला से भी ऊपर लोकाग्र में स्थित हो जाता है और समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिवृत्त बन जाता है। विदेह अवस्था प्राप्त हो जाती है और अपुनरावृत्ति गति मिल जाती है।

तो मोक्ष की साधना बच्चों का खेल नहीं है। यह आडम्बर से या नाचने, कूदने से नहीं होती। इसके लिए मन में समताभाव जागृत करना पड़ता है। मगर दुनिया तो यह चाहती है कि हम भोगी भी बने रहें, और योगी भी बने रहें। इस प्रकार एक साथ दो घोड़ों पर सवारी करना शक्य नहीं है। समताभाव जागृत करके ज्ञान, दर्शन और चरित्र की साधना करोगे तो अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी। यही सिद्धि के तीन सोपान हैं। जो इस तरह साधना में दत्तचित्त होते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर,
२६–१०–५६

कायोत्सर्ग

उपस्थित सज्जनो !

शिष्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया—

प्रश्न—काउस्सग्गेणं भंते ! किं जणयइ ?

उत्तर—काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ । विसुद्ध पायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थ झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ।

—उत्तराध्ययन, अ २९, १२

पूज्य गुरुदेव, जो आत्माएँ धर्म में अनुराग रखती हैं, धर्म-परायण हैं, मुमुक्षु हैं और आत्मसाधना के पथ पर चलने वाली हैं, वे कायोत्सर्ग करती हैं । किन्तु कायोत्सर्ग करने से क्या लाभ होता है ?

'कायोत्सर्ग' शब्द दो पदों के सयोग से बना है— पहला है 'काय' और दूसरा है 'उत्सर्ग' व्याकरण के नियमानुसार दोनों में सन्धि होने पर 'कायोत्सर्ग' शब्द निष्पन्न होता है । यहाँ गुण सन्धि हुई है । अर्थात् काय शब्द के यकार का अ और उत्सर्ग शब्द का उकार मिलने पर 'ओ' हो गया है । फिर 'अज्झीणं परेण संयोज्यम्' अर्थात् जो व्यंजन स्वरशून्य होता है वह अगले स्वर के साथ मिल जाता है, इस नियम के अनुसार य् जब ओ में मिल गया तो कायोत्सर्ग शब्द बन गया ।

जो कमजोर होता है वह दूसरों का सहारा लेता ही है। यहाँ यकार की कमजोरी यह थी कि उसमे कोई स्वर नहीं था और स्वर-विहीन व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता। अक्षर अगर उच्चारण के काम में न आ सके तो फिर उससे लाभ ही क्या है? अतएव उसे परवर्त्ती स्वर का आश्रय लेना पड़ा है।

'कायोत्सर्ग' संस्कृत भाषा का शब्द है। इसका प्राकृत रूपान्तर 'काउस्सग्ग' होता है। यह रूपान्तर प्राकृतव्याकरण के नियमानुसार हुआ है। संस्कृतभाषा की अपेक्षा प्राकृत भाषा के उच्चारण सरल होते हैं, अतएव आप लोग भी सरलता के कारण 'काउस्सग्ग' शब्द का उच्चारण करते हैं और यह उचित भी है।

'काय' शब्द का अर्थ शरीर है। समूह को भी काय कहते हैं बहुत-से अंग-प्रत्यंगों का समूह होने के कारण शरीर भी काय कहलाता है।

'उत्सर्ग' शब्द का अर्थ है त्याग करना-छोड़ना इस प्रकार कायोत्सर्ग का शब्दार्थ है शरीर को त्याग करना। परन्तु यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि शरीर संयमसाधन का प्रधान आधार है। इस शरीर के बिना संयम की साधना सम्भव नहीं है। अतएव इसका त्याग करना कैसे समुचित हो सकता है? शास्त्र में यद्यपि समाधिमरण का विधान है, परन्तु समाधिमरण यों ही नहीं कर लिया जाता। जब मन में तरंग उठी और समाधिमरण कर लिया, ऐसा विधान नहीं है। वह तो प्राणान्तकारी उपसर्ग, दुर्भिक्ष, अतिशय जरावस्था, या अचिकित्स्य रोग होने पर ही किया जाता है। मनुष्य जब समझ लेता है कि अब शरीर टिकने वाला नहीं है और यदि कुछ दिन टिक भी गया तो संयम में साधक नहीं बाधक ही होगा, तब अनन्यगत्या समाधिमरण का आश्रय लिया जाता है। ऐसी स्थिति में कायोत्सर्ग

का विधान क्यों किया गया है ?

इसका उत्तर यह है कि यहाँ कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ लाक्षणिक ग्रहण करना चाहिए। शरीर के त्याग का अभिप्राय शरीर संबंधी ममता का त्याग करना है। जो जिस वस्तु की ममता का त्याग कर देता है, वह उस वस्तु का त्यागी कहलाता है। भले ही पत्नी घर में रहती हो किन्तु उसका पति यदि उस पर अनुराग नहीं रखता तो वह उसका त्यागी कहा जाता है। अतएव इस लोकव्यवहार की तरह शरीर की ममता का त्यागी शरीर का ही त्यागी माना जाता है। कायोत्सर्ग शब्द का यही शास्त्र संगत अर्थ है।

सज्जनों! लोगों को शरीर पर अत्यधिक ममता होती है। मनुष्यों से आगे बढ़ कर देखें तो पशुओं को, यहाँ तक कि छोटे-छोटे कीड़ों को भी अपने शरीर के प्रति असाधारण अनुराग है। न जाने वे उस शरीर में रह कर कौन-सा सुख भोग रहे हैं कि शरीर को छोड़ना नहीं चाहते।

मनुष्य इस शरीर के लिए क्या नहीं करता ? कौन-सा पाप है जो इस शरीर के लिए नहीं किया जाता ? लोग कहते हैं—माणं वाला, माणं चोरा, माणं दंसमसगा आदि। अर्थात् इस शरीर को कहीं सांप न डस ले। और यदि घर में सांप के आने की आशंका हो जाती है तो उस घर से ही निकल भागते हैं। फिर कहते हैं—यह कहीं चोरों के पल्ले न पड़ जाय, कहीं मच्छर न काट जाए! कहीं सर्दी-गर्मी न लग जाय!

कितना प्यारा है यह शरीर! कितनी सार-संभाल की जाती है इस की! जेठ-आषाढ़ के महीने में बिजली का पंखा चलता है, खस की टट्टियाँ लगाता है, उन पर पानी छिड़कता है, ताकि मन्द सुगंधित पवन आवे और यह सब इस शरीर के लिए ही किया जाता है।

और कहीं भूखा न रह जाय! दो घड़ी भी देर हो गई तो मत पूछो बात! सारे घर को सिर पर उठा लेता है। छोकरा-छोकरियों को पटकता है और औरत के साथ झगडा करता है। कहता—भूख का मारा मरा जा रहा हूँ। पेट मे चूहे डंड पेल रहे हैं।

मनुष्य समझता है कि यह शरीर रत्नों की डिबिया है। जैसे बाइयाँ चोरों का भय होने पर अपने आभूषणों के डिब्बे को संभाल कर रख लेती हैं, इसी प्रकार बल्कि इससे भी बढ़ कर शरीर संभाल कर रक्खा जाता है। इस पर से ममता का त्याग करना बड़ा कठिन काम है। इसे बनाये रखने, सबल रखने और नीरोग रखने के लिए मनुष्य भयानक से भयानक दुष्कृत्य करता है, जो मानवोचित भी नहीं कहे जा सकते। अपने शरीर की रक्षा के लिए न जाने कितने प्राणियों के शरीरों का खून बहा देता है। दूसरे प्राणियों के कलेजे खाता है, अंडे खाता है, दूसरे जीवों के शरीर का तेल निकलवा कर मालिश करता है। चर्बी निकलवाता है। जीवित पशुओं की निर्दयता के साथ चमड़ी उतरवाता है!

इस प्रकार इस शरीर के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि आदि सभी पापों का सेवन किया जाता है! दुनिया में कोई ऐसा पाप नहीं है जिसका सेवन शरीर के लिए न किया जाता हो।

तो ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस प्रकार प्रिय और मनोहर लगने वाले शरीर की ममता को त्याग देना और ऐसा निश्चल बन जाना कि चाहे कोई इस शरीर को काटे, छेदे, भेदे तो भी अपनी आत्मा में ही रमण होता रहे, यह उच्च कोटि का ध्यान है, त्याग है और यही कायोत्सर्ग है।

हाँ, ऐसा नहीं होना चाहिए कि बैठे हुए तो है ध्यान में किन्तु मच्छर काटने लगा तो चित्त चल-विचल हो गया और ध्यान को जल्दी से पारने की कोशिश की।

सज्जनो! धन्य हैं वे पुरुषपुंगव जिन्होंने धधकते हुए अंगारे की अंगीठी सिर पर जलवा ली, जिन्होंने शरीर की खाल उतारने पर भी समभाव रक्खा और धन्य हैं वे स्कंधक मुनि के ५०० शिष्य जो नरा धम-पापिष्टपालक ब्राह्मण के द्वारा घानी में पेले जाने पर भी अखण्ड समभाव धारण किये रहे। ऐसी प्राणान्तकारी यातना के समय भी जिनका कायोत्सर्ग अखण्ड रहा और तनिक भी आर्त्तध्यान जिनके चित्त में उत्पन्न न हुआ, वे महान् हैं आदर्श हैं। उनका यह स्पृहणीय आदर्श सदैव सन्त पुरुषों के समक्ष मूर्त्तिमान् रहेगा।

कृषक के पास जो जमीन है, वह अधिक अन्न उपजाने के लिए है, सिर्फ देखने के लिए नहीं है। जमीन बोने के लिए होती है न कि दुनिया को दिखलाने के लिए कि मेरे पास इतनी जमीन है!

आज विनोबाजी भूमिदान माँगने के लिए पैदल घूम रहे हैं और जिनके पास अधिक भूमि है उनसे कहते है-तुम्हारे चार बेटे हैं तो मुझे अपना पाँचवाँ बेटा समझ लो और एक हिस्सा मुझे भी दो। लोग खुशी खुशी उनकी झोली भर देते हैं और वे उस भूमि को भूमि के अभाव में कष्ट पाने वाले गरीबों को बाँट देते हैं। यह सब उनकी त्यागभावना का ही प्रताप है। समाचारपत्रों में पढ़ते हैं कि उन्होंने लाखों एकड़ भूमि दान में ले ली है। तो जिनके पास भूमि व्यर्थ पड़ी थी और काम में नहीं आ रही थी या उनकी निज की आवश्यकता से अधिक थी, उनसे लेकर भूमिहीनों को, जो भूमि के बिना बेकार हो रहे थे, बेरोजगार थे, बाँट देना एक बहुत महत्वपूर्ण

लौकिक योजना है। इस योजना से अन्नसमस्या के हल में सहायता तो मिल ही सकती है, साथ ही लोगों में पारम्परिक सहानुभूति और संवेदना की भावना जागृत होती है। वर्गसंघर्ष और वर्गविद्वेष के बदले पारस्पारिक सद्भावना और सहयोग को प्रोत्साहन देने का यह एक नूतन तरीका है। यह सामाजिक अहिंसा की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण कदम है।

भारत सरकार उन कृषकों को पुरस्कार देती है और उनकी सहायता करती है जो अधिक से अधिक पैदावार करके दिखलाते हैं।

तो ज़मीन कितनी ही उपजाऊ और सुन्दर क्यों न हो, यदि उस पर परिश्रम न किया जाय, उसे ठीक तरह से जोता न जाय तो क्या लाभ हो सकता है ? बुद्धिमान् मनुष्य वही कहलाता है जो प्राप्त भूमि से अधिक से अधिक लाभ उठाता है।

इसी प्रकार यह काया भी धरती है। शरीर को भी क्षेत्र (खेत) कहते हैं। यह केवल पोषण करने के लिए, खिलाने-पिलाने के लिए मौज उड़ाने के लिए और दुनिया भर के भक्ष्याभक्ष्य पदार्थ भोगने, के लिए नहीं है। कपड़े फाड़ने के लिए, शौचालय गंदे करने के लिए। भंगियों को तकलीफ़ देने के लिए नहीं है, यह काया अधिक से अधिक अन्न प्राप्त करने अर्थात् जीवन का सार निकालने के लिए मिली है !

खेत का मालिक अगर यह समझता है कि मेरा यह खेत बहुत सुन्दर है, प्रियकारी है और मैं इसमें खराबी नहीं होने दूँगा, इसका पेट नहीं फाड़ूँगा, इसके अंग को क्षत-विक्षत नहीं करूंगा; तो वह व्यवहार कुशल नहीं समझा जा सकता। जिसमें इतनी व्यर्थ की ममत्व रूप भावुकता है उसके ज़मीन का मालिक बने रहने से क्या लाभ है। जब वह ज़मीन का तो मालिक बन बैठा है और उपज के

अभाव में मनुष्य भूखों मर रहे हैं, कष्ट पा रहे हैं तो उसकी इस भावुकता का कोई मूल्य नहीं है। जो ज़मीन से अन्नोत्पादन का लाभ लेना चाहता है उसे उस भूमि में हल चलाना पड़ेगा और बड़े बड़े ढेलों को फोड़ना पड़ेगा। जगह-जगह जो रोड़े और भाटे पड़े हैं, उनको हटाना पड़ेगा। इस प्रकार ज़मीन को उपजाऊ बनाने के लिए तैयार करना पड़ेगा।
ज़मीन जब तैयार हो जाएगी तो वही कहने लगेगा कि मेरी ज़मीन ऐसी है जैसे मक्खन हो।

सज्जनों! बीज बोने में मिहनत उतनी नहीं होती जितनी ज़मीन तैयार करने में होती है। किसान दो महीना पहले ही बार २ जोत कर और खाद डाल कर ज़मीन तैयार कर लेता है और उचित अवसर जान कर उसमें बीज डाल देता है।

इसी प्रकार हमको यह कायारूपी धरती बड़ी कीमत अदा करने के बाद मिली है। यह बड़ी उपजाऊ है, बढ़िया जाति की है। भाग्य से हमे मिल गई है। तो इसे यों ही बेकार पड़ी न रहने देकर, मक्खन की तरह नरम बनाओ, कठोर भूमि में बीज उत्पन्न नहीं होता पहले तो इसे उपजाऊ बनाओ, फिर इसमें बीज डालो और अधिक से अधिक धर्मअराधन की फसल पैदा करो जिससे तुम्हारी जन्मजन्मांतर की भूख दूर हो। याद रक्खो, ऐसी धरती एकेन्द्रिय आदि जीवों को नहीं मिली है। मिली तो उन्हें भी है पर वह ऐसी उपजाऊ नहीं है। एकेन्द्रिय की बात छोड़िए, ऐसी उत्तम भूमि तो नारक और देव जैसे पचेन्द्रिय जीवों को भी प्राप्त नहीं है।

देवों का शरीर मानवशरीर से भिन्न प्रकार का विलक्षण होता है। वह चमकता है और उसमें से प्रकाश की किरणें निकलती हैं और वह महान बलवान होता है मगर पैदावार उससे नहीं होती

अर्थात् वे नियम व्रत रूप धर्म साधना नहीं कर सकते। किन्तु जो धरती मनुष्यों को मिली है, वह ऐसी सुन्दर और उपजाऊ है कि उसका पूरी तरह सदुपभोग करने वाला निहाल हो जाता है। वह नर से नारायण, भक्त से भगवान् चाकर से ठाकुर, पुजारी से पूज्य और उपासक से उपास्य बन सकता है।

तो शरीर रूपी इस क्षेत्र में, धर्म रूपी बीज बोकर उसकी पैदावार बढ़ाना चाहिए। कहा है—

धर्म न वाड़ी ऊपजे, धर्म न मोल विकाय।
धर्म शरीरे नीपजे, पाप शरीरे जाय॥

धर्म रूपी फसल न किसी वाड़ी में उत्पन्न होती है और न बाजार में ही बिकती है। इसकी उपज तो शरीर रूपी खेत में ही हो सकती है और पाप दूर हो जाता है।

तो यह शरीर हमें धर्म का उपार्जन करना और पाप का विनाश करने के लिए मिला है। मगर आज हम इसका किस प्रकार उपयोग कर रहे हैं? हम इस शरीर का पोषण करने के लिए, इसके तुष्टीकरण और पुष्टीकरण के लिए नये-नये पाप कर रहे हैं और नये-नये कर्मों का बन्धन कर रहे हैं। इस शरीर की रक्षा के लिए ऐसी ऐसी चीजें खाई जा रही हैं जिनके लिए असंख्य पंचेन्द्रिय प्राणियों के प्राण लूटे जाते हैं। ऐसे मनुष्य अपने मनुष्यत्व का दीवाला निकाल रहे हैं जो शरीर हमारे लिए अर्थात मानवजाति के लिए वरदान रूप है, उसे घोर अभिशाप बनाया जा रहा है।

ऐसी स्थिति में जो महाभाग शरीर संबंधी आसक्ति का त्याग करके निश्चल एकाग्र भाव से अल्प काल के लिए भी कायोत्सर्ग करते हैं और देहाध्यास से ऊपर उठने का अनवरत अभ्यास करते

रहते हैं, वे प्रशंसनीय हैं और वे शरीर रूपी इस जमीन से माल निकाल रहे हैं। इसके विपरीत, जो केवल इसके पोषण में ही लगे रहते हैं, सवेरे बिस्तर पर बैठे-बैठे चाय पीते हैं, सिगरेट फूंक कर टट्टी जाते हैं, चर्मदेवता की आराधना करते हैं-हजामत करते हैं, नहाते हैं और फिर केश सवार कर अपने अड्डों पर जा पहुँचते हैं और दुनिया भर की गप्पें मारते, दूसरों की टीका-टिप्पणि करते और निन्दा चुगली में समय नष्ट करते हैं। बाजार में निकलें तो ऐसे बन-ठन कर मानो अपने आपको बेचने के लिए ही निकले हों।

तो आज अधिकांश लोग चर्म-देव की ही सेवा में लगे रहते हैं। उसी की नित्य नियमित उपासना करते हैं। अपने चेहरे को खूबसूरत बनाने के लिए कई शौकीन लेडीज् पाउडर और क्रीम लगाते हैं। किन्तु भाई- तू कितने ही पाउडर के डिब्बे क्यों न खाली कर दे, प्रकृति ने जैसा शरीर का निर्माण किया है, वह बदलने वाला नहीं है। इसके भीतर जो गदगी भरी है, वह साफ होने वाली नहीं और शरीर के अनेक छेदों में से वह निकले बिना रहने वाली भी नहीं। कितने ही सुगधित पदार्थ शरीर पर मल लो, इसकी स्वाभाविक दुर्गन्धि नहीं जाएगी। कितना ही सुन्दर और स्वच्छ बनाने का प्रयत्न कर देखो, प्रकृतिप्रदत्त अपावनता दूर न होगी। कितना ही हृष्टपुष्ट बनाने की चेष्टा करो, आखिर यह नष्ट होगा और नष्ट होने पर किसी काम का नहीं रहेगा, पशुओं का शरीर तो मरने के पश्चात् भी काम में आ जाता है, परन्तु मानवशरीर कुछ भी काम नहीं आता। कहा भी है—

सागर का सारा जल लेकर धो डालो यह देह,
फिर भी बना रहेगा ज्यों का त्यों अशुद्धि का गेह।

न शुचि होगा यह किसी प्रकार,
हंस का जीवित कारागार ॥
गाय भैंस पशुओं की चमड़ी आती सौ सौ काम,
हाथी दांत तथा कस्तूरी, बिकती महँगे दाम ।
नर-तन किन्तु निपट निस्सार,
हंस का जीवित कारागार ।

सज्जनों! हाथी के दांत के चूड़े बनते हैं और तरह-तरह की सुन्दर वस्तुएँ बनती हैं। सिंह और हिरण की चमड़ी का लोग बड़े शौक से उपयोग करते हैं और कई लोग उसे पवित्र भी मानते हैं। जोगी उसे आसन की जगह काम में लाते हैं। यद्यपि यह मूर्खतापूर्ण मान्यता ही कही जा सकती है कि किसी पशु के प्राणों को लूटना और चमड़ी उतारना और फिर उसे पवित्र समझना। फिर भी लोगों की ऐसी धारणा है और उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। मनुष्य को सोचना चाहिए कि गाय की चमड़ी में और मृग की चमड़ी में क्या अन्तर है? लेकिन राजा माने सो रानी, चाहे अंधी हो या कानी! अपनी-अपनी धारणा और मान्यता जो ठहरी! कौन किसके दिमाग पर और जीभ पर ताला लगा सकता है? बींदराजा बींद राजा चाहे कैसा भी हो, उसे तो प्यारा ही लगता है।

मृग की खाल भी प्राणी का अंग है और गाय की खाल भी प्राणी का अंग है। दोनों पंचेन्द्रिय प्राणी हैं। दोनों की खाल की उत्पत्ति रज और वीर्य से हुई है। गाय का शरीर भी मांस और रुधिर से बना है और हिरन का शरीर भी इन्हीं पदार्थों से बना है। फिर दोनों में क्या अन्तर है कि मृगचर्म को पवित्र समझा जाता है?

आजकल के लोग तो गाय के चमड़े का भी उपयोग कर रहे हैं। टोपी में चमड़ा लगता है। पैरों में जूते चमड़े के, बटुए चमड़े के, बैग चमड़े के, कमरपट्टे चमड़े के और न जाने कितनी चीजें चमड़े की बन रही हैं। क्या इन चीजों में गाय का चमड़ा नहीं लगता? मुलायम चमडे की अनेक वस्तुएँ पेट के बच्चे को मार कर उस की खाल से बनाई जाती हैं। जो योगी मृगचर्म का उपयोग करते हैं वह भी तो अहिंसक तरीके से ही नहीं मिल जाता। जंगलों के जो पशु अपनी मौत मरते हैं, उन्हें दूसरे पशु जानवर खा जाते हैं और वह चमड़ा काम में नहीं आता। यह मृगचर्म खास तौर से मृगों को गोली मार कर ही प्राप्त किया जाता है और उसी को योगी अपने काम में लाते हैं। धर्म की उपासना जैसे पावन कृत्य के लिए इतनी अपावन-हिंसाकारी वस्तु को काम में लाना कहाँ तक उचित है, इस पर कौन विचार करता है?

किन्तु उन योगियों ने अपनी पसंद का सूत्र बना लिया है कि मृगचर्म पवित्र होता है! सब के अपने-अपने निराले सूत्र हैं। मुसलमानों ने भी एक सूत्र घढ़ लिया है कि अपनी मौत से मरे हुए का मांस हराम है और छुरे से मारे हुए का हलाल है। कोई झटके के मांस को पवित्र कहते हैं! इस प्रकार दुनिया की गाड़ी अन्धाधुन्ध चल रही है। मगर अन्धाधुन्ध चलने वाली गाड़ी अवश्य ही गड्ढे में गिरेगी। फिर सवारियों को और हाकने वाले को भी खतरा पैदा हो जायगा।

पर किसे कौन रोके? जिसने जैसा मान लिया है, वह उसी को सही समझता है। मगर मुझसे पूछो तो मैं कहूँगा कि गाय और हिरण की खाल में कोई अन्तर नहीं है। दोनों पचेन्द्रिय पशु हैं, दोनों को समान कष्ट का अनुभव होता है। दोनों को हिंसा

समान है।

खैर मरने वाला पशु तो मर गया फिर भी उसका शरीर काम में आता है। बकरे की खाल की मशकें बनती हैं, खालें बनती हैं। उसकी हड्डियाँ वगैरह भी काम आती हैं। किन्तु इस मनुष्य के शरीर की कोई चीज काम नहीं आती। यह शरीर इतना निकम्मा है कि किसी के कुछ भी काम नहीं आता।

लेकिन दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो इसके समान दूसरा कोई उत्तम शरीर भी नहीं है। शर्त यही है कि इसका उपयोग अच्छा किया जाय। जो भी कोई नर से नारायण बना है, मनुष्य शरीर से ही बना है। मानवशरीर ही साधना के लिए सब से अधिक उपयुक्त साधन है। इस दृष्टि से देवगण भी मनुष्यभव पाने की अभिलाषा करते हैं। किन्तु इस तथ्य को प्रथम तो समझने वाले ही थोड़े हैं और उनमें भी तदनुकूल व्यवहार करने वाले तो क्वचित् विरले ही मिलेंगे। अधिकांश मनुष्य अपने जीवन के महत्त्व को नहीं समझते और पशुओं की भाँति जीवन यापन करते हैं। वही खाना, पीना, भोगोपभोग आदि क्रियाएँ करते रहते हैं जो पशुओं में पाई जाती हैं। इन्हीं में उनका जीवन समाप्त हो जाता है।

तो मनुष्य को यह देह रूपी क्षेत्र पाकर जो उपज पैदा करनी चाहिये, वह नहीं कर रहा है और इस के मोह में ही फँसा हुआ है। यह उस की भूल नहीं तो और क्या है यद्यपि आप पाक पैदा करने की विधि जानते हैं। फिर भी हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। मिहनत नहीं करते और उस ओर ध्यान तक नहीं देते।

सज्जनों! यदि निर्वाण का महामङ्गलमय द्वार किसी ने खोला है तो मनुष्य ने ही खोला है। यह मानव शरीर की असाधारण महिमा है। ऐसी स्थिति में दिन-रात इस की सेवा शुश्रूषा में ही लगे रहना

सिंगारने और सजाने में ही समय पूरा करना और इस से कोई धर्म साधना न करना कहाँ तक उचित है ? ऐसा करने से शरीर को कोई सार्थकता नहीं है।

आप भली भाँति जानते हैं कि मनुष्य शरीरधारी ही तीर्थंकर चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासु देव और यहाँ तक की वही सिद्ध बुद्ध होते हैं। इसी धरती में सब धन सन्निहित हैं, किन्तु वह सब को दृष्टिगोचर नहीं होते।

एक छोटी सी कथा याद आ गई। किसी साहूकार के चार बेटे थे। सेठ धनवान् था और उस के यहाँ कृषि का धन्धा होता था। वह लम्बी-चौड़ी जमीन का मालिक था। उसके लड़के पढ़े-लिखे और होशियार थे, किन्तु थे निरुद्यमी और पुरुषार्थहीन।

पुरुषार्थहीनता और दरिद्रता का एक रूप है और मनुष्य जीवन का कलंक है। पुरुषार्थभीरु पुरुष कभी सुन्दर और सफल जीवन नहीं व्यतीत कर सकता।

संसार के समस्त भोगोपभोग के पदार्थ उद्यमशील पुरुष के ही काम आते हैं। निरुद्यमी के पास कदाचित् हों तो भी चले जाते हैं। उसका जीवन बुझा हुआ, मरा हुआ और निर्माल्य होता है। उसे कोई भी महत्त्व नहीं देता।

हाँ तो वे आलसी लड़के सोचते थे कि हमारे पिता ने खूब कमाया है और हमारे लिए जमा करके रख दिया है। ये जब तक जिंदा हैं तब तक तो कमा कर खिला ही रहे हैं और जब मर जाएँगे तो जो धन हमारे लिये जमीन में गाढ़ रक्खा है, उसे हम निकाल लेंगे और उड़ाएँगे। हमारी जिन्दगी के लिए वह पर्याप्त है और कमाई करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार गाड़ी चल रही थी कि सेठजी बीमार पड़ गये

और बीमार भी ऐसे पडे कि खाट छोड़ना कठिन हो गया। चारों लड़कों ने स्वार्थवश बुड्ढे की खूब सेवा की। सेठजी की हालत दिनोंदिन गिरने लगी तो चारों लड़कों ने आपस में सोचा-पिताजी चल देने की तैयारी कर रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि अचानक बोल बंद हो जाय या बेहोश हो जाएँ तो हम लोग ताकते ही रहें। जमीन में गड़े धन का सिर्फ उन्हीं को पता है। उसके विषय में पूछताछ कर लेना चाहिए। कहीं पिताजी के साथ ही साथ धन से भी हाथ न धोना पड़े!

इस प्रकार सलाह-मशविरा करके चारों सपूत बुड्ढे के पास गये। उनमें से एक ने कहा-पिताजी, आयुष्य का कुछ ठिकाना नहीं है। हमें जो कुछ शिक्षा देनी हो सो दे दीजिए और जो धन आपके हाथ का जहाँ गाड़ा हुआ हो, वह भी बतला दीजिए।

सेठ ने कहा-बेटो, अधिक क्या कहूँ! तुम चारों प्रेम से हिलमिल कर रहना। आलस्य को त्याग देना और खूब परिश्रम करना धन के विषय में तुम जो पूछ रहे हो सो जो कुछ भी मेरा धन है, सब अपनी धरती में है। अतएव मिहनत करके निकाल लेना।

मरने से पहले उन्होंने इस संबंध में इससे अधिक कुछ नहीं कहा। अन्तिम समय आया और सेठजी का श्वास बंद हो गया। कालूराम जी के साथ वह सदा के लिए चल दिये। जो धन ऊपर था, वह पिता के क्रिया कर्म में लगा दिया और खा-पी लिया।

जब पास में कुछ भी धन न रहा तो चारों भाइयों ने मंत्रणा की-पिताजी रहे नहीं, और वे कह गये हैं कि जो कुछ भी धन है, वह धरता में है। अतः पड़े रहने से अब काम नहीं चलेगा धीरे-धीरे हालत खराब होती गई तो भिखारी बन जाएँगे और दर-दर भटकते फिरेंगे अतएव भलाई इसी में है कि हम लोग खेत में से धन निकालें। समय पर न चेते तो दुर्दशा अनिवार्य है!

सब ने यही निर्णय किया। चारों भाई कुदाली और फावड़े ले-ले कर खेत पर गये और जमीन गहरी खोदनी शुरू की। उन्हों ने सारा खेत खोद डाला किन्तु कहीं से एक कौड़ी भी न मिली। जब कुछ न मिला तो चारों कहने लगे-बुड्ढा मर गया सो मर गया, साथ ही हम को भी मार गया। हम लोग पसीना-पसीना हो गये! कुदाली और फावड़े भी टूट गये। मगर मिला कुछ भी नहीं। बुड्ढा हम को भी चकमा दे गया। धन था अवश्य, पर न जाने किसे दे गया और हम से कह दिया कि धन ज़मीन में है।

उन्होंने आशा और तृष्णा से प्रेरित होकर बार-बार खेत को खोदा, मगर वहाँ धन होता तो निकलता!

थोड़े दिनों बाद वर्षाऋतु आरंभ हो गई और बारिश शुरु हो गई। गाँव और आसपास का सारा कचरा कूड़ा खेत में इकट्ठा हो गया और वह खाद बन गया। चारों ने खेत में अनाज बो दिया खेत की खुदाई अच्छी हो गई थी, अतएव पैदावार इतनी अच्छी हुई कि घर में धन ही धन हो गया। जब खूब धन हो गया तो चारों की प्रसन्नता का पार न रहा और वे कहने लगे-पिताजी ने ठीक ही तो कहा था कि सारा धन धरती में है, मिहनत करके निकाल लेना। उनका कथन सही सिद्ध हुआ। हम लोगों ने मिहनत की और धन निकल आया। यह सब धरती में से तो निकला ही है। हमारी मिहनत सफल हुई।

तिजोरियों में जो रुपये चमकते हैं, वे सब कहाँ से आए हैं? जहाँ पैदावार नहीं होती वहाँ अधिक धन भी नहीं होता। वहाँ वालों को पूरी रोटी भी नहीं मिलती। वास्तव में सभी सांसारिक समृद्धियों का मूल खेती है। जहाँ खेती में अच्छी उपज होती है, वहाँ सब कुछ है। जहाँ खाद्य पदार्थ बहुतायत से उत्पन्न होते हैं वहाँ धन की

कमी नहीं रहती और जहाँ धन की कमी नहीं वहाँ दुनिया की सभी चीजें तैयार रहती हैं।

सब कुछ खेती पर निर्भर है। खेती न निपजी और अकाल पड़ गया तो चांदी-सोना भी किस काम का? आखिर उससे भूख तो मिट नहीं सकती और न प्राण बच सकते हैं। प्राणरक्षा होती है तो अन्न से होती है। इसी से कहा है—

अन्नं वै प्राणाः।

अर्थात् निश्चय ही अन्न प्राण हैं।

यह शरीर अन्न पर ही टिका है। अन्न की उपज बहुत होती है तो सभी चीजें सस्ती हो जाती हैं, सुलभ हो जाती हैं और देश में शान्ति रहती है।

तो ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जो धन है, वह ज़मीन में है। जब चाहो तभी उसमें से धन निकाल सकते हो। परन्तु धन मिलता उन्हीं को है जो ज़मीन खोदते हैं। चारों भाइयों ने ज़मीन खोदी थी धन निकालने के लिए और चाहा था कि इसमें से सोना-चांदी निकले किन्तु धन इस रूप में न निकल कर जीवनाधार बन कर निकला प्राणाधार बन कर निकला।

उसी दिन से उनकी बुद्धि में आया कि वास्तव में जो धन है सो ज़मीन में ही है। उसको जितना जोतोगे और खोदोगे उतना ही धन में से निकलेगा।

सारांश यह है कि शरीर भी क्षेत्र (खेत-जमीन) है और बहुत कीमत चुकाने पर यह मिला है। अगर एक बार इस पर से कब्जा चला गया तो फिर न जाने कब तक नहीं मिलेगा! कदाचित् मनुष्यजन्म से बिछड़ कर निगोद अवस्था में जा पहुँचा तो अनन्त काल बीत जाने पर भी और अनन्त चौबीसियों के मोक्ष में चले जाने पर भी वहाँ से

निकलना कठिन हो जाता है। अतएव जब तक यह प्राप्त है, उद्यम करके, पुरुषार्थ का अवलम्बन करके फल प्राप्त कर लो। अभी जो चाहो सो इससे ले सकते हो। इस मनुष्यजीवन में बंबूल के काँटे मत बोओ। नहीं तो तुम्हारे ही पैरों में चुभेंगे। और जिस खेत में काँटे अधिक होते हैं, वहां धान काटना भी मुश्किल हो जाता है। उसे काटने के लिए हाथों में चमड़े के दस्ताने पहनने पड़ते हैं, अन्यथा भुरट हाथों में चुभ जाते हैं।

तो यह जमीन काँटे बोने के लिए नहीं मिली है। इसमें वह नफीस पौष्टिक पाक पैदा करो जिसे खाकर आत्मा कृतकृत्य हो जाय और फिर खाद्य पदार्थों के सेवन की भूख ही न रहे।

मगर दुर्भागी मनुष्य इतनी सुन्दर और कीमती ज़मीन को पाकर भी कोई लाभ नहीं उठा सकता। कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं करता।

एक अभागा कंगला जंगल में जा कर लकड़ियाँ काटता है और कोयले बनाता है। फिर उन कोयलों को शहर में लाकर बेच देता है और जो कुछ पाता है, वह उसका पेट भरने को भी पर्याप्त नहीं होता। एक बार वह जंगल में घूम रहा था कि अकस्मात् उसी समय एक राजा भी हवाखोरी के लिए उधर जा पहुँचा। राजा ने उसे दुखी और दरिद्र देख कर उसकी रामकहानी सुनी तो दया से दिल भर आया राजा ने सोचा-यह भी मेरी प्रजा है और मुझे इसका दुख दूर करना चाहिए।

यह सोच कर राजा ने समीपवर्त्ती अपना चंदन का बगीचा उसे दे दिया और कहा-इससे तेरा दारिद्र्य दूर हो जाएगा।

वह गरीब राजा की कृपा पर बहुत प्रसन्न हुआ। दूसरे दिन बगीचे में पहुँच कर उसने बड़े-बड़े पेड़ों को काट कर कोयले बनाने आरंभ किये।

सज्जनो ! जिन्हे कोयला बनाने की आदत पड़ जाती है वे चूकते नहीं हैं। उन्हे कितना ही कहो, वे कोयले से मुँह काला किये बिना नहीं मानते। तो उस दरिद्र पर राजा की कृपा हो गई थी और चन्दन भी कीमती मिल गया था—बावना इस चन्दन की तासीर ऐसी होती है कि बड़े कढाव में तेल उबाला जाय और फिर उसमें जरा-सा टुकड़ा उस चन्दन का डाल दिया जाय तो सारे तेल को ठंडा कर दे। मगर वह अभागा उस सोने को कोयला बनाता है और कोयले बाज़ार में बेचता है। इस प्रकार करते-करते उसने चन्दन के सारे पेड़ों को कोयला बना कर बेच दिया।

एक दिन राजा फिर उसे मिल गया। राजा ने सोचा कि अब इस की दरिद्रता दूर हो गई होगी। मगर वह उसी फटे हाल मे नज़र आया। तब राजा ने पूछा— यह क्या हाल है? अब भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी ?

तब वह बोला— अन्नदाता ! आपने जो बगीचा दिया था वह खत्म हो गया है। अगर और दे देते तो कुछ दिन और निकल जाते। वे लकड़ियाँ बड़ी अच्छी थीं और मैंने उन सब का कोयला बना कर बेच दिया है।

राजा— अरे मूर्खाधिराज, मैंने तुझे बावना चन्दन के पेड़ दिये थे जिनको बेच कर तू मालामाल हो सकता था, मगर तूने तो उन्हें जला कर कोयला बना दिया ! तूने उनका मूल्य ही न समझा।

तब वह बोला— बाब जी, मैं तो कोयला बनाना ही जानता हूँ। मैंने इसी का अभ्यास किया है। इसके अलावा और कुछ सीखा ही नहीं हूँ। क्या करूँ महाराज ! कर्मगति ऐसी ही है।

राजा— मगर समझना तो चाहिए था कि लकड़ी-लकड़ी में

भेद होता है। बावन चन्दन बढ़िया चीज़ है। उसकी गंध ही बतला देती है कि वह कैसी है ? तूने उसकी कोई कद्र ही नहीं की।

वह बोला— क्या करूँ बाबू जी, पेट तो भरना ही पड़ता है।

राजा— उसमें से कुछ लकड़ी तेरे पास बची भी है या नहीं ?

वह— हाँ, सिर्फ एक टुकड़ा बचा है।

राजा— अच्छा, जा उसी को बाज़ार में बेच दे।

वह उस टुकड़े को लेकर बाजार में गया। उसको बेचने पर हज़ारों रुपये मिले। रुपये लेकर वह आ गया और पछताने लगा कि— हाय, मैंने कीमती बगीचे को जला कर कोयला बना दिया; मुझ-सा हतभाग्य और कौन होगा ? बड़ी भूल कर दी।

मगर उसका पछतावा क्या काम का ? कोयला फिर चंदन बनने वाला नहीं था। चन्दन के कोयले बन सकते हैं किन्तु कोयले चन्दन नहीं बन सकते।

सज्जनों ! यह एक दृष्टान्त है। पुण्य रूपी राजा ने प्रसन्न हो कर तुम्हे मनुष्य-जन्म रूपी चन्दन का बगीचा बख्शीश किया है। इसे पाकर अपनी दरिद्रता दूर कर सकते हो और चाहो तो उस मूर्ख की तरह कोयले भी बना सकते हो। कोयलों के तो फिर भी कुछ दाम बंटे, मगर इस शरीर का एक पैसा भी नहीं बंटने वाला है। पापियों को कुत्ता भी खाने को तैयार न होगा। यह शरीर और जीवन कोई खिलौना नहीं है कि मन में आया वैसा खेल लिया। इसे सभालने की और सदुपयोग करने की आवश्यकता है। उन लड़कों ने समझ लिया कि जमीन ही असली धन है तो उन का भविष्य बन गया।

तीर्थंकर भगवान् उस सेठ के समान हैं और साधु साध्वी, श्रावक,

श्राविका उनके चार बेटे हैं। उन्हों ने सब को बता दिया है कि मनुष्य जीवन रूपी उत्तम क्षेत्र है और इस में से यथेष्ट धन प्राप्त कर सकते हो। जैसे मैं बना हूँ, तुम भी बन सकते हो। इस आत्मा के लिए कोई बात असंभव नहीं है, मगर शरीर के प्रति रहे हुए ममत्व का त्याग करने से ही काम बनेगा। अगर जमींदार खेत को जोते ही नहीं तो पाक कैसे निपजेगा ?

तो पाक पैदा करने के लिए इस शरीर का उपसर्ग करना पड़ता है। इस नश्वर शरीर से 'भागते भूत की लंगोटी ही भली' इस कहावत के अनुसार इस नाशवान शरीर से जो भी लाभ उठा सको उठा लो और बिगड़े जीवन को सुधार लो। कायोत्सर्ग मन की जबरदस्त साधना है। उस समय कोई तिजोरी की चाबी कमर में से खोल कर ले जावे, थप्पड़ मारे, यहाँ तक कि दाढ़ी मूंछ काट ले जावे फिर भी निश्चल भाव रहना चाहिए।

तुम मूंछ कटने की बात सुन कर हंस पड़े। मगर यह हंसने की बात नहीं है। एक घटना ऐसी ही घट गई थी। पंजाब में एक जींद नामक नगर है उस में एक अग्रवाल भाई सम्पतराय थे। थोकड़ों और शास्त्रों के ज्ञान के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने एक दिन किसी से न लड़ने का पच्चकखाण प्रतिज्ञा कर लिया। उन के जान पहचान के दूसरे श्रावक ने परीक्षा करने की ठानी। उस ने धर्म स्थानक में ही उसकी एक तरफ की मूंछ का लोच कर दिया। अर्थात् मूछें उखेड़ दीं, मगर सम्पतराय जी इतना दृढ़ रहा अपने प्रण पर कि उस ने चूं तक नहीं किया। उसने सोचा-मूंछ तो फिर आ जाएगी, परन्तु भंग हुआ प्रत्याख्यान फिर आने वाला नहीं है।

तो कभी-कभी परीक्षा करने वाले भी आ जाते हैं। विद्यार्थी को परीक्षा देने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। तैयारी कर ए'

है तो परीक्षा से क्या डरना !

देखो, गजसुकुमाल जी कृष्ण महाराज के छोटे भाई थे। लघु वय में ही भगवान् अरिष्टनेमि के निकट दीक्षित हो गये और उसी दिन शमशान में जाकर कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये। उनके इस भव के भावी श्वसुर और पूर्व-भव के शत्रु सोमल ब्राह्मण ने उन्हें पहचान लिया। हृदय में द्वेष की ज्वाला भड़क उठी। उसी क्रूर ने उनके मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल बाँध दी और उसमें खदिर के धधकते हुए अंगार भर दिये। सिर खिचड़ी की तरह खदबद-खदबद करने लगा और आंतड़ियाँ चटाक्-चटाक् करके टूटने लगी। मगर वह महापुरुष आत्मनिष्ठ ही रहे, उफ् तक नहीं किया। उन्होंने शत्रु को भी परम मित्र माना। सोचा मैं इसकी लड़की से विवाह करता तो यह सौ दो सौ की पगड़ी बँधाता, मगर आज यह ऐसी पगड़ी बँधा रहा है। जिसे बांध कर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। तीनों लोकों का स्वामी बन जाऊँगा। वह इस प्रकार आत्माभिमुख हुए और कैवल्य प्राप्त करके मुक्त हो गये।

सज्जनो ! सूरमा बनने को तो सब तैयार हैं पर रणभूमि में जूझना कोई विरला ही जानता है। गजसुकुमालजी का उदाहरण सर्वोत्कृष्ट कायोत्सर्ग का उदाहरण है। हम जैसे पामर प्राणी भी यथाशक्ति कायोत्सर्ग करके कर्म-निर्जरा कर सकते हैं और शान्तिलाभ कर सकते हैं।

कायोत्सर्ग के समय भूतकाल की भूलों का चिन्तन करना चाहिए। ध्यानमुद्रा में रहना चाहिए और शारीरिक ममत्व का परित्याग करके, आत्माभिमुख होकर, ध्यान के कुलहाड़े से, समस्त दोषों को खोज कर नष्ट करना चाहिए। मुख से 'अप्पाणं वोसिरामि' कह कर बैठ जाने से ही कायोत्सर्ग नहीं होता। उसमें निरन्तर आत्म-

चिन्तन चलता रहना चाहिए। जो आत्मभाव में लीन हो जाता है, वह सब पापों का विशुद्धीकरण कर देदा है। वह भूलों के प्रति सावधान बन जाता है और भविष्य में सतर्क रहता है।

भूलों का प्रायश्चित करके आत्मा जब विशुद्ध हो जाता है तो उसे अनुपम शान्ति मिलती है। उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार की आकुलता नहीं रहती। जैसे समर्थ कुली सही सलामत सामान को यथास्थान पहुँचा देता है, उसी प्रकार कायोत्सर्ग से बलिष्ठ बना आत्मा भी गृहीत व्रत-प्रत्याख्यान को प्राणों की बलि देकर भी निभाता है।

जो प्रति दिन कायोत्सर्ग करके शारीरिक ममता का परित्याग कर देते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर,
२७-१०-५६

ये और, मैं और

उपस्थित सज्जनों !

कल कायोत्सर्ग से होने वाले लाभ के विषय में प्रकाश डाला गया था और बतलाया गया था कि शारीरिक ममत्व का त्याग करने से अर्थात् कायोत्सर्ग करने से आत्मा आत्मभाव में रमण करने लगता है और कायोत्सर्ग करने से जीवन इतना निखर जाता है, परिमार्जित हो जाता है, और इतना प्रभावित हो जाता है कि अपने आप में लीन हो कर जहाँ कहीं रहता है और जिस किसी भी स्थिति में रहता है, आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है। उसे अपूर्व और अनूठे आनन्द की प्राप्ति होती है। उसकी आन्तरिक आकुलता दूर हो जाती है। संतापों का शमन हो जाता है। उसे समस्त पदार्थ सुख रूप ही भासित होते हैं। कोई भी वस्तु, कोई भी स्थान, कोई भी काल और कोई संयोग उसके अन्तःकरण को क्षोभ नहीं पहुँचा सकता।

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो जगत् के पदार्थों में न सुख है, न दुःख है। सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है और दुःख आत्मा का वैभाविक गुण है, और यह दोनों ही संवेदना या अनुभूति पर निर्भर हैं। अनुभूति आत्मा में ही होती है; अतएव सुख-दुःख का आधार आत्मा ही है। जगत् के पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं। अमृत अमृत रूप में और विष विष रूप में है। वे हमसे

कुछ नहीं कहते और न हमारे पास स्वय भाग कर आते ही हैं। उन्हें हमारे पास आने की दरकार भी नहीं है। हमारे बिना उनका कोई काम अटक नहीं रहा है।

अगर आवश्यकता है तो आपको ही उनकी आवश्यकता है। आप उनके बिना नहीं रह सकते। भोजन, वस्त्र, पानी, चूल्हा, चक्की, कुर्सी, टेबिल, आसन, मुखवस्त्रिका आदि को आपकी जरूरत नहीं है जनाब को ही उनकी आवश्यकता है।

शास्त्र में एक बड़ा ही सुन्दर प्रश्नोत्तर आया है। शिष्य ने गुरु से पूछा-जीव पुद्गलों के भोग मे आता है, या पुद्गल जीव के भोग में आता है ?

इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है-पुद्गल जीव का भोग है, किन्तु जीव पुद्गल का भोग नहीं है, क्योंकि जीव पुद्गलों के भोग की इच्छा करता है, पुद्गलों को भोग की इच्छा नहीं होती। पुद्गलों में चेतना नहीं है और उनमें किसी कर्म का सबंध भी नहीं है। अतएव उनमें इच्छाविकार भी संभव नहीं है।

तो यह जीव ही विभिन्न पदार्थों के संयोग-वियोग में सुख-दुःख की कल्पना कर लेता है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष के लिए जगत् का कोई पदार्थ सुख-दुःखरूप नहीं होता, जब कि अज्ञानी पुरुष के लिए वह सुख-दुःख के कारण बनते हैं। ज्ञानी पुरुष वात्त्विक रूप में वस्तुओं का पर्यवेक्षण करता है। अज्ञानी अपनी विकृत कल्पना का सम्मिश्रण करके उन्हें नाना रूप प्रदान कर देता है। वह पदार्थों को उन्हीं के असली रूप में नहीं देखता। देखते समय अपने आपको तटस्थ नहीं रख सकता।

ज्ञानी समझता है-ये और हैं, मैं और हूं। ये अपने धर्म में स्थित हैं मैं अपने धर्म में स्थित हूं मेरी जाती अलग, इनकी जाती अलग। इनसे

मेरा कोई लेना-देना नहीं।

यह मेरा कुछ नहीं कर सकते और मैं इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जब इस प्रकार की सम्यग्दृष्टि-परमार्थिक दृष्टि उत्पन्न हो जाती है और वह अन्तरतर में बद्धमूल हो जाती हैं, तब जीव सुख के सागर में विमग्न हो कर आत्मिक आनन्द का अनुभव करता है। मगर कहने भर को ऐसा न हो, इस प्रकार की धारणा ऐसी परिपक्व हो जानी चाहिए कि वह कभी ओझल न हो और सदैव जीती-जागती बनी रहनी चाहिए।

कहा गया है कि कायोत्सर्ग करने वाली आत्मा भूत और वर्त्तमान काल के दोषों का चिन्तन करके उन्हें दूर कर देता है और अपने व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि का पालन करने में समर्थ बनता है। और जो अपने शरीर के ममत्व को ही छोड़ चुका है उसके लिए अन्य पदार्थों के ममत्व का तो प्रश्न ही नहीं रहता। वह ध्यानी जहाँ विचरता है, सुखे सुखे विचरता है। उसमें विचारों की एक दिव्य ज्योति प्रकाशित हो चुकी है, जिससे वह जानता है कि ये पदार्थ अन्य हैं और मैं अन्य, हूँ। अगर मैं इनके प्रति आसक्ति धारण करूँगा तो ये मुझे दुःख रूप सिद्ध होंगे।

तो सुख रूप और दुःख रूप प्रतीत होना अपनी भावना का ही करतब है। अगर मैं पदार्थों को समभाव से देखूँगा तो उनका मुझ पर कोई असर नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार अपने मन को साध लेने के कारण ज्ञानी पुरुष संसार में होता हुआ भी संसार से पृथक है। पानी में देखने वाले की परछाई पड़ती है, पर वह पानी में होती हुई भी पानी से भिन्न है। जब तक दर्शक पानी में प्रवेश नहीं करता, तब तक उसकी परछाई ही पानी में है। जब वह दूर हट जाता है

तो वह भी नहीं रहती। इसी प्रकार ज्ञानी जन संसार में रहते हैं तो उनका संबध भी ससार से रहता है, मगर फिरभी वास्तव में वह अलग ही बने रहते हैं।

शीशे में दिखलाई देने वाले दृश्य शीशे में भी हैं और वास्तव में उससे न्यारे भी हैं अगर शीशे को उलटा कर दिया जाय तो फिर उस पर कोई प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार जब तक तुम शीशे को दुनिया के सामने लिये हो, तब तक उसमें नाना प्रकार के प्रतिबिम्ब पड़ते रहेंगे। नाना प्रकार के चढ़ाव-उतार, सकल्प विकल्प, भय शोक, जुगुप्सा आदि उत्पन्न होते रहेंगे। किन्तु यदि शीशे का मुख फेर दोगे तो कुछ भी नजर नहीं आएगा। कैमरे का मुख बंद कर देने के बाद उसे कहीं भी लिये फिरो, उसमें फोटो नहीं आएगा। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कहीं भी जाय, उस पर परपदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

हाँ, सब साधक एकदम ऐसे नहीं होते हैं, क्योंकि यह तो उच्च कोटि की साधना है। अतएव जो कायोत्सर्ग नहीं कर सकते, उनके लिए दूसरा तरीका है। जो जौहरी नहीं बन सकता, वह भी कपड़ा किराने या सोने-चांदी की दूकान कर सकता है। कमाई करने के अनेक तरीके हैं। अपनी शक्ति के अनुसार सभी काम कर सकते हैं।

तो जो लोग कायोत्सर्ग नहीं कर सकते, उन्हें कम से कम अपने कायिक व्यापारों को तो वश में रखना ही चाहिए। अशुभ कार्यों में काया को नहीं लगाना चाहिए।

यहाँ भी शिष्य ने प्रश्न किया है भगवन्, काया को वश में रखने से क्या लाभ होता है ?

यहाँ काया को त्यागने का नहीं, केवल वश में रखने के संबंध

प्रश्न है। काय को वश में रखने का अर्थ है यह है कि चलना है, बैठना है, उठना है। अन्यान्य जीवनोपयोगी क्रियाएँ करनी हैं, तो बहुत सँभल कर, यतनपूर्वक, विवेक और विचार के साथ, परिणाम का विचार करके करना चाहिए, जिससे त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से बचाव हो सके।

तीर चलाया जाता है तो पहले हाथों को मजबूत कर लिया जाता है, निशाना साध लिया जाता है, तब कहीं तीर छोड़ा जाता है। इसी प्रकार काया को भी साध कर ही क्रिया करनी चाहिए। अविवेक के साथ उठे, बैठे, जीमे, चले, फिरे और नाचे-कूदे, तो यह काय को वशीभूत करना नहीं कहा जा सकता ऐसी क्रिया हिंसामयी हो सकती है। इस प्रकार कायिक कुचेष्टाओं को रोक लेना ही काया को वश में कर लेना कहलाता है। जब बन्दर की तरह चपलता की जाती है तो वह भी दुःखदायी होती है।

एक बढ़ई अधचिरे लक्कड़ के दो फाड़ों के बीच में कीला फँसा कर कहीं चला गया। वहाँ एक बंदर आया और उस लक्कड़ पर बैठ गया। चपलता से प्रेरित हो कर उसने वह कीला खींच लिया और उसके अंडकोष दोनों फाड़ों के बीच में फँस गये। आखिर वह छटपटा कर वहीं मर गया।

बंदर को क्यों मरना पड़ा? उसकी काय वश में नहीं थी। इसी प्रकार जो अपने शरीर को नियंत्रण में नहीं रखते हैं, वे कम से कम भावप्राणों को तो गवा ही बैठते हैं।

तो प्रत्येक कार्य में विचार की आवश्यकता है। बैठना है तो विवेक के साथ बैठना है। खड़ा होना है तो ऐसी जगह खड़ा होना है कि कोई उंगली न उठा सके।

शास्त्र में साधु के लिए कठोर साधनाएँ बतलाई गई हैं।

अगर हम शास्त्रानुसार चलते हैं तो हमारा यह लोक और परलोक भी सुधर जाता है। नाई का छोरा जब बाल काटना सीखता है तो दूसरे के सिर की घिसाई करके सीखता है और पैसे भी ले लेता है। इसी प्रकार संयम के नियमों का पालन करने से वाह-वाह भी मिलती है और आत्मकल्याण भी होता है।

परन्तु न केवल साधु को वरन् मनुष्य मात्र को विवेक की आवश्यकता है। विवेक में ही मनुष्य की मनुष्यता निहित है। मल-मूत्र त्यागने में भी विवेक की आवश्यकता रहती है। यहाँ की महिलाएँ ऊपर से ही कचरा, पेशाब आदि सड़क पर फैंक देती हैं, यह कितना अशिष्टतापूर्ण आचार है। इसका कारण यही है कि उनका शरीर उनके नियंत्रण में नहीं है। नियंत्रण में होता तो देवियाँ ऊपर से सीधी पार्सल न करतीं बल्कि विवेक पूर्वक नीचे आकर फैंकतीं।

आप दुकान पर बैठते हैं, किन्तु शरीर साध कर न बैठें तो अच्छी तरह कमाई नहीं कर सकते। अतएव सभी जगह विवेक और नियंत्रण आवश्यक है।

तो शास्त्राकार कहते हैं। जिन्हों ने अपने शरीर को वश में करके अशुभ चेष्टाओं का परित्याग कर दिया है, उनका चारित्र विशुद्ध हो जाता है। उन का विकास और परिमार्जन होता चला जाता है। जो मैल हो तो वह भी धुल जाता है। धीरे धीरे वह सम्यक् गुणों का धारक हो जाता है और सामायिक आदि चारित्र में रमन करने लगता है।

प्रश्न हो सकता है—चारित्र क्या है? उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया है कि—'चयं रिक्तं करोतीति चारित्रम्।' आत्मा में कर्मों का जो चय-उपचय हो गया है, तह पर तह जमी गई है और एक-एक आत्मप्रदेश पर जो अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाएं छाई हुई हैं, जिनके कारण आत्मा मलीन और भारी हो गया है, उसे जिस के द्वारा रिक्त

अर्थात् खाली किया जाय हटाया जाय, उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र एक प्रकार का कपाट है जो आने वाले पाप रूपी पानी को रोक देता है। पानी नियन्त्रण में न रखा जाय तो संसार में प्रलय मच जाता है। ब्रह्मपुत्र दरिया काबू में नहीं आ रहा है। सरकार करोड़ों रुपया खर्च करके भी उसे नियंत्रण में लाना चाहती है और उससे लाभ उठाना चाहती है। नियंत्रण में आने से लाखों बीघा जमीन उपजाऊ हो जाएगी और प्रलय मच जाना भी रुक जाएगा।

मगर पानी को रोक लेना तो फिर भी आसान है, किन्तु योगों को वश में रखना बहुत कठिन है। बड़े बड़े 'इंजीनियर' भी इसके बहाव में आ जाते हैं।

शास्त्रकार कहते हैं कि जो अपनी काया को वश में रखते हैं, जप तप स्वाध्याय आदि में लगाते हैं, सेवाशुश्रूषा करते हैं, किसी का दु,ख दूर करते हैं और इस प्रकार शुभ प्रवृत्तियों में लग कर अशुभ क्रियाओं से निवृत्त रहते हैं, उनका चारित्र निर्मल हो जाता है।

चलने अर्थात् व्यवहार करने की साधना चारित्र हैं। शब्द की दृष्टि से और साधारणतया फल की दृष्टि से यद्यपि चारित्र एक है, तथापि साधना की दृष्टि से उस के पाच भेद हैं। सभी साधक समान कोटि के नहीं हो सकते, अत चारित्र को पाच भागों में बांट दिया गया है—(१) सामायिक चारित्र (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र (३) परिहार विशुद्धि चारित्र (४) सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र।

(१) सामायिक चारित्र—जब कोई भव्य आत्मा साधुपद अंगीकार करता है तो उसे 'करेमि भंते' का पाठ पढ़ाया जाता है और जीवन पर्यन्त के लिए सब पापों का त्याग कराया जाता है, यह सामायिक चारित्र कहलाता है।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र—दीक्षित हो जाने पर और सामा-

यिक चारित्र अंगीकार करा देने के बाद सात दिन में, एक महीने में, या अन्तत. छह महीने के बाद फिर बड़ी दीक्षा दी जाती है। छोटी दीक्षा यद्यपि दे दी गई है पर उसमें अभी नरमाई है। कमी को पूरा करने के लिए अवकाश है, और इस समय के अन्तराल में गुरु जब देख लेते हैं कि अब पूरी पात्रता आ गई है, और सारी कमियाँ दूर हो गई हैं, तब बड़ी दीक्षा देकर उस पर पूरी रोक लगा दी जाती है। यह छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है।

(३) परिहारविशुद्धि चारित्र कर्मोंपर चोट लगा लगा कर आत्मा को विशुद्ध बनाना, पापों के मैल को धो डालना। वस्त्र मलीन हो जाता है तो स्वच्छ करने के लिए उसे मुक्के मारते हैं, मोगरे से कूटते हैं। पछाड़ते हैं, तब उसका मैल निकल जाता है। इसी प्रकार जप-तप आदि की चोटें लगाने से आत्मा का मैल निकल जाता है। आत्मा स्वच्छ, साफ और विशुद्ध होकर चमकने लगती है। यदि वस्त्र को न पछाड़ा जाय और हाथ ही न लगाया जाय तो मैल निकलने वाला नहीं। इसी प्रकार अगर जप-तप की चोटें आत्मा पर न लगाई जाएँगी तो वह भी मलीन ही रहेगा और उसकी मलिनता बढ़ती ही चली जाएगी।

चावल को राजस्थानादि कई देशों में चोखा भी कहते हैं और चोखे का मतलब अच्छा भी होता है और पंजाबी भाषा में इसे चंगा कहते हैं। संसार में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के आदमी होते हैं। बुरा बनने के लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं है। बुराइयाँ तो छाया की भाँती पीछे लगी ही रहती हैं। बुरे को अच्छा-चोखा बनाने में ही कठिनाई होती है। जब उस पर मूसल पड़ते हैं तब वह चोखा बनता है। जो मैदान छोड़ कर इधर-उधर भाग जाते हैं, वे चोखा नहीं बन पाते हैं।

अगर मोक्ष में जाना है तो जप-तप करना ही होगा। कचरे को निकाले बिना और चोटें सहन किये बिना चोखे नहीं बन सकते अगर चोटें सह लीं और कर्मों का कूड़ा-कचरा निकाल फैंका तो चोखे बन जाओगे और फिर जन्म-मरण का अवश्य अन्त आ जाएगा। फिर बार-बार मिट्टी मे नहीं दबना होगा, कटना नहीं पड़ेगा, बैलों के पैरों तले कुचलने की नौबत नहीं आएगी और चोटें भी सहन नहीं करनी पड़ेंगी। सभी दुखों का अन्त आ जाएगा।

किन्तु सहन किये बिना और त्याग किये बिना काम नहीं चलेगा। छिप छिप कर कितनी ही हेराफेरी करो, अन्त में रास्ते पर आना ही पड़ेगा।

एक आदमी नगर में माल बेचने के लिए चला। वह सोचता है-मैं महसूल देने से बच जाऊँ और चुंगी वालों की नजर में धूल झौंक दूं और बिना महसूल दिये ही माल शहर में ले जाऊँ। वह रात भर इधर उधर फिरता रहा और जब प्रभात हुआ तो वह चुंगी-चौकी के सामने था। आखिर उसे व्यर्थ ही रात भर परेशान होना पड़ा, पैर तोड़ने पडे और अन्त में चुंगी देकर ही शहर में प्रवेश करना पड़ा। इसी प्रकार जीव को मोक्ष-नगर में प्रवेश करने के लिए आवश्यक शुल्क चुकाना ही पड़ेगा। बिना शुल्क चुकाये हम इधर-उधर भटकते ही फिरेंगे।

तो समय निकल जाता है और बात रह जाती है। यह सुनहरी घड़ियाँ बार-बार मिलने वाली नहीं हैं। अतएव शास्त्रकारों का कथन है कि मनुष्य को अपने जीवन को समेट कर चलना चाहिए। जो अपने योगों को नियंत्रण में रखता है, वही चारित्र का निर्वाह करने में सफल होता है, वही कर्मों पर हमला करके, उन्हे ललकार कर और चुनौती देकर विजय प्राप्त करता है। ऐसे विशिष्ट साधकों के लिए

छुट्टी है कि वे गच्छ से पृथक् होकर तपस्या करें और कर्मों के साथ जूझे। संघ में रह कर वह उग्र साधना नहीं की जा सकती। वहाँ ऐसी परिस्थितियाँ नहीं होतीं कि उग्रतर साधना की जा सके। अतएव वे एकान्त में जा कर साधना कर सकते हैं। मगर सभी को गच्छ का त्याग करने का अधिकार नहीं है। आखिर संघव्यवस्था का भी ध्यान रखना पड़ता है। शास्त्र मे उल्लेख है कि जो आचार्य अग्लान भाव से सघ का सुचारु रूप से संचालन करते हैं, वे उसी भव में या दूसरे भव मे मोक्ष जा सकते हैं।

यदि बिना बाधा के और बिना कष्ट माने, केवल धर्म की वृद्धि के लिए वे तमाम जिम्मेदारियाँ सभालते हैं और तरह-तरह की गुत्थियाँ सुलझाते हैं और आगे बढ़ते हैं तो वे अवश्य ही तीसरे भव मे मुक्ति पा लेते हैं, क्योंकि उन्होंने सघ को धर्म में लगाया है, भूले-भटके जनों को रास्ते पर लगाया है।

किसी उत्तरदायित्व को अंगीकार कर लेना सरल है किन्तु निभाना कठिन होता है। आज अनुत्तरदायित्व की सब जगह शिकायतें सुनी जाती हैं। मीटिंग में समय पर आना नहीं, उस में दिलचस्पी लेना नहीं, फिर भी पद को सँभाल कर बैठे रहना, इसमें न उस व्यक्ति की शोभा है न समाज की। आज जो किश्ती डगमगा रही है, किनारे पर नहीं पहुँच रही है और भंवर मे ही चक्कर काट रही है, इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि कार्यभार लेने वाले अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक रूप से नहीं करते। जब मल्लाह ही साहस खो बैठा हो तो नाव पार कैसे लग सकती है? तो जो जिस सस्था या संघ का अधिपति हो उसे, उसके प्रति वफादार होना चाहिए अगर वह वफादार नहीं है तो फिर उससे क्या आशा की जा सकती है? नेता की नीति स्पष्ट होनी चाहिए। जो ईमानदारी के साथ

अपने उत्तरदायित्व को वहन नहीं कर सकते, उन्हें पृथक् हो जाना चाहिए।

जिसकी नीति डावाडोल है, जो सभी को खुश रखने की चेष्टा करता है, वह किसी को भी खुश नहीं रख सकता। मनुष्य का कर्त्तव्य तो यह होना चाहिए कि वह किसी की खुशी-नाखुशी का विचार न करके अपने कर्त्तव्य का ही विचार करे। सच्चा पथप्रदर्शक किसी के रौब में न आकर अपने कर्त्तव्य का ही पालन करता है। वह अपने ध्येय को ही सदा सन्मुख रखता है।

अगर आपने महात्मा गांधी की जीवनी पढ़ी होगी तो आपको पता होगा कि उनके पास एक समय एक मुसलमान आया। वह प्रोफेसर था। उससे कोई भूल हो गई तो उसके खिलाफ मुकदमा चलाया गया। मामला बड़ा पेचीदा था उसने होशियार वकीलों की सहायता ली, पर मामला काबू में नहीं आया। जब वह निराश हो गया तो उसे विचार आया-बिगड़ी को बना सकते हैं तो गांधीजी ही बना सकते हैं।

यह सोच कर वह गाधी जी के पास पहुँचा और बोला मेरे खिलाफ अमुक ने मामला चला रक्खा है और बात बिगड़ रही है। आप मेरे मित्र हैं और दुनिया पर आपका प्रभाव है। आपके होंठ हिलाने भर की देरी है। मेरी बिगड़ी बात बन जाएगी।

गांधीजी ने कहा— मैं आपकी सहायता करने को तैयार हूँ। मगर यह बतलाइए कि आपके ऊपर जो अभियोग लगाया गया है, वह सच है या गलत ?

उसने कहा-गाधीजी, अभियोग सच्चा है। मैं गलती पर हूँ। मगर जीतना तो पड़ेगा ही। इसी लिए आपकी साक्षी की आवश्यकता है।

गांधीजी- मैं साक्षी देने को तैयार हूँ।

उसने पूछा-मगर आप अदालत में क्या कहेंगे ?

गांधीजी-जो आपसे सुना है, वही कहूंगा।

प्रोफेसर को विश्वास नहीं था कि गांधी जी झूठी गवाही देने को तैयार होंगे। मगर जब वह तैयार हो गए तो उसने उपर्युक्त प्रश्न किया था। गांधीजी से उसका उत्तर सुन कर वह अवाक् रह गया। फिर बोला तो आप मुझे मरवाने के लिए गवाही देंगे ?

गांधीजी-अभी आपने ही तो कहा था कि अभियोग सच्चा है। तो मैं अदालत में यही कहूँगा कि यह अपराधी है और इन्हें दंड मिलना चाहिए। मुझे आपसे कोई मिहनताना नहीं लेना है लेना होता तो भी मैं मिथ्याबात न कहता।

प्रोफेसर गभीर होकर बोला-आप मेरे मित्र हैं और मेरी रक्षा करना आपका फर्ज है।

गाधीजी-मैं आपके हाड़-मास का मित्र नहीं हूँ, सद्गुणों का मित्र हूँ।

मगर आज क्या स्थिति है ? लोग धृष्टतापूर्वक कहते हैं मुझे मित्र की मित्रता से मतलब है, उसके फैलों से क्या मतलब ! मगर वह सच्चा मित्र नहीं कहला सकता जो अपने मित्र को धर्मपथ से हटा कर पाप-पथ पर लगाता हो। सच्चे मित्र का कर्त्तव्य अपने मित्र को सत्य के मार्ग पर लगाना है। पर आजकल तो ऐसे ही मित्र अधिक मिलेंगे जो मित्र को गलती करने पर शाबाशी देते हैं और आश्वासन देते हैं-डरना नहीं, हम तेरे साथ हैं! इससे उसे प्रोत्साहन मिलता है और वह गंभीर गलतियाँ करने लगता है।

तो गांधीजी ने सच बोल कर न्यायाधीश को कह दिया

कि यह शख्स मेरे पास आया था। इसने गलती स्वीकार कर ली है और वह प्रतिज्ञा करता है कि भविष्य में ऐसी भूल नहीं करेगा।

तो तथ्य बात कह कर गांधी जी ने मुकदमे की तारीख से पूर्व ही सारा मामला सुधार दिया। जज पर भी इस सत्य का प्रभाव पड़ा और इससे उसकी विजय हुई।

आज कहाँ है ऐसी स्पष्टवादिता और सत्यवादिता ? थोड़ा-सा हलुवा और कचौरियाँ मिल जाएँ तो आप सौ झूठ बुलवा लीजिए बहुत-से लोग तो गवाही देने का पेशा ही बनाये बैठे हैं। जो जैसी चाहे वैसी गवाही उनसे दिलवा ले। जहां सत्य का इस प्रकार अपमान होता है, वहां धर्म कैसे पनप सकता है ? चारित्र की गुज़र कैसे हो सकती है ?

तो अभिप्राय यह है कि मनुष्य में सत्यनिष्ठा और प्रामाणिकता होनी चाहिए। जो जिस संस्था का पदाधिकारी या संचालक बना है, उसे ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। उसका दिल विशाल और मन ऊँचा होना चाहिए। मन में संकीर्णता नहीं होनी चाहिए।

किसी ने मुसलमान को हिन्दू बना लिया और उसको सिखाया कि राम-राम कहा कर। फिर भी उस के मुँह से अल्लाह तो निकल ही जाता। वह कहता है-मैं राम-राम कहने का बहुत ध्यान रखता हूँ। मगर बहुत दिनों से अल्लाह घुसा हुआ है।

हाँ तो मैं कहने जा रहा था कि नेता को उस मुसलमान की तरह पूर्वाभ्यासकाही आदि नहीं होना चाहिए उसे पहली आदत छोड़कर संस्था का संचालन ठीक रूप से करना चाहिए संस्था का जो कार्यकर्त्ता हो, वह चतुर होना चाहिए। उसके दिमाग से ऐसी चीजें-योजनाएँ

निकलें, जिनसे समाज का भला हो। वे उस इमारत को ऊँची उठाने की सोचें, नीचे गिराने की ना सोचें। लगी हुई ईंटों को वे सिमेंट से और चूने से मजबूत करने की कोशिश करें। अगर कोई ईंटें कहती हैं कि हम तो तभी रहेंगी जब इस ईंट को हटा दोगे, अन्यथा नहीं। तो मैं कहूँगा कि हमें ऐसी नई ईंटों की आवश्यकता नहीं जो दूसरी अच्छी ईंटों को बिना कारण निकाल देना चाहती हैं।

सज्जनो! इस फकीर के यह शब्द लिख लो हृदय में कि इस प्रकार की विघटन की नीति तुम्हें बदलनी पड़ेगी। किन्तु बलात्कार से बदली तो क्या बदली! अरे, जो ईंटें सिर देकर दीवार में चिपकी हुई हैं, तुमको सर्दी–गर्मी धूप से बचाती हैं, जो अपना सिर फुड़वा करके भी बिल्डिंग को बनाये हुए हैं, वे कैसे निकाली जा सकती हैं? यह ठीक है कि कभी किसी ईंट को निकालना भी पड़ता है, पर वही ईंट निकाली जाती है जिसमें विकृति आ गई हो और जिसके कारण दूसरी ईंटों में खराबी आने का अंदेशा हो मगर ऐसा तो नहीं कि सभी ईंटे खराब हों। जिसमें आँच नहीं लगी है और जिसने सीता की तरह अग्निपरीक्षा नहीं दी है, वह नवर बीस की भी ईंट खराब हो सकती है और दस की भी खराब हो सकती है। ऐसा कौन-सा न्याव-भट्ठा है जिसकी सारी की सारी ईंटें पकी हुई ही निकलें? है कोई कुम्हार ऐसा जो छाती ठोक कर कह सके कि मेरे न्याव की एक भी ईंट खराब-कच्ची नहीं है? मगर यह कौन-सा न्याय है कि एक न्याव की पकी हुई ईंटों को भी खराब कह दिया जाय और दूसरे न्याव की कच्ची ईंटों को भी अच्छा समझा जाय!

तो आपको गुण को महत्त्व देना चाहिए और जल्दी ही सही

राह पर आना चाहिए। अन्यथा आपके हक में ही अच्छा न होगा।

दुनिया के लोगो! समझो, विचारो और जीवन की तरफ दृष्टिपात करो। सोचो कि हमें क्या करना चाहिए था और हम क्या कर रहे हैं? जिनके ऊपर बिल्डिंग को खड़ी रखने का दायित्व है, वही अपने वास्तविक कर्त्तव्य का विचार न करेंगे तो कैसे काम चलेगा?

तो मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप अपने उत्तरदायित्व को समझें। और जो कार्यकर्त्ता हैं वे भी समझें नेता बनने के लिए उस्तरों का हार पहरना पड़ता है। फूलों का हार पहनने वाले बहुत हैं पर जो उस्तरों के हार को भी फूलों का हार बना लेते हैं, वही सच्चे बहादुर हैं, विवेकवान् हैं।

पंजाब प्रान्त में फरीद कोट एक नगर है। वहाँ लाला रूपलाल जी जैन बड़े सुलझे दिमाग के आदमी हैं। उन्होंने धीरे धीरे कुरूढ़ियों में संशोधन करके समाज का ढांचा ही बदल दिया। समाज में क्रान्ति कर दी। फिजूलखर्ची बंद करके नयी रोशनी पैदा कर दी।

सब अपने-अपने मतलब की बात कहें, पर तुमको अपने मतलब की बात कहनी चाहिए। अगर न्याय को सन्मुख रख कर चलोगे तो निश्चय ही ऐसा समय आएगा कि आप पूर्ण विश्वसनीय समझे जाओगे और समाज आपकी बात अवश्य मान लिया करेगा। किन्तु जो दोगले होंगे, दो प्रकार की नीती रक्खेंगे, उनकी विजय नहीं होगी।

तो परिहारविशुद्धि चारित्र यही सिखलाता है कि प्रहार सहे बिना चोखा बनने वाला नहीं है।

अतएव विशिष्ट तपस्या की इच्छा करने वाले साधु गच्छ

का त्याग करके, गुरुदेव की अनुमति से बाहर जाते हैं और कठोर साधना करते हैं। अपने नियत तपश्चरण को पूर्ण करके पुनः गच्छ में आ जाते हैं। यह है परिहार विशुद्ध चारित्र की विधि।

(४) सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र—दसवें गुणस्थान वाले मुनि को होता है। जब समस्त कषायों का क्षय या उपशम हो जाता है और सिर्फ लोभ कषाय का सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है उस समय का चारित्र का सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है।

(५) यथाख्यात चारित्र—यह सर्वोत्कृष्ट चारित्र है। जब कषाय का लेश मात्र भी उदय नहीं रहता, तब होता है।

आशय यह है कि जिसने अपने शरीर को नियंत्रण में कर लिया है, वह इन चारित्रों का पालन करता हुआ केवलज्ञान प्राप्त करता है। फिर शेष चार अघातिया कर्मों का भी क्षय करके अन्त में सिद्ध बुद्ध हो जाता है। अतएव जो योगों का निरोध करते हैं और कायोत्सर्ग करते हैं तथा जगत् के समस्त पदार्थों को अपने से पृथक मानते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर,
२८-१०-५६

कषायप्रत्याख्यान

उपस्थित धर्म प्रेमी महानुभावो !

शास्त्र में प्रश्न किया गया है कि पूज्य गुरुदेव जो भव्यात्मा और मोक्षाभिलाषी आत्माएँ कषायों-क्रोधमान कपटाई लोभ का प्रत्यख्यान-त्याग करती हैं, तो इस प्रत्याख्यान से उन्हे किस फल की प्राप्ति होती है ?

यह प्रश्न बड़ा उपयोगी और मौलिक है। यदि यह पहेली हल हो जाती है तो सारा मामला ही सुधर जाता है। पर यह ऐसी गुत्थी है जो अनादि काल से उलझी हुई है और सुलझने को गई कि फिर उलझ जाती है। बहुत बार कषायों का उपशम हुआ, किन्तु क्षय नहीं हुआ। मूलतया क्षय हो जाता है तो उनमें पुनः अंकुरित होने का सामर्थ्य नहीं रह जाता। किन्तु जब उन्हे दबा दिया गया और ऊपर से ढाँक दिया गया तो अवसर मिलने पर वे फिर उभर आईं। अगर क्षीण हो जातीं-जड़ से नष्ट हो जातीं तो फिर नहीं पनप सकती थीं।

जो वृक्ष जड़ से उखड़ जाता है तो फिर भूमि कितनी ही उर्वरा हो और कितना ही सिंचन क्यों न किया जाय, वह पनप नहीं सकता। यही बात कषायों के विषय में लागू होती है। जब तक कषाय सत्ता में रहती है, उसका तारतम्य चलता ही रहता है, किन्तु जब बारहवें गुणस्थान में समूल उच्छेद हो जाता है,

तब उसके पनपने का कोई कारण नहीं रह जाता। जब वृक्ष का जीवन-स्वरूप मूल ही कट गया तो समझ लीजिए कि उसके सारे अंग-प्रत्यंग ही कट गये। कुछ ही दिनों में वह सूख जाता है। और लक्कड़ बन जाता है।

तो कषायों का प्रत्याख्यान करने से क्या लाभ होता है, यह प्रश्न विचारणीय है। शास्त्रकारों ने कषायों को वश में करने की बार-बार घोषणा की है। कष और आय इन दो शब्दों के समास से 'कषाय' शब्द बना है। कष का अर्थ है-संसार और आय का अर्थ है-लाभ। अभिप्राय यह निकला कि जिसको अपनाने से संसार की प्राप्ति हो, अर्थात् भवभ्रमण का सिलसिला चलता रहे और जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती ही चली जाय, उसे कषाय कहते हैं। वास्तव में संसार का मूल कारण कषाय ही है और यही जीव के समस्त दुःखों का कारण हैं।

दसवें गुणस्थान तक जीव सकषाय रहता है। ग्यारहवें गुणस्थान में कषायों का पूर्ण उपशम हो जाता है और बारहवें में समूल क्षय हो जाता है। कषायों के क्षीण हो जाने पर जीव में इतनी प्रचंड-शक्ति आ जाती है कि वह अप्रतिपाती दशा प्राप्त कर लेता है, अर्थात् उसके फिर अधःपतन की कोई संभावना नहीं रह जाती। वह अत्यन्त वेग के साथ ऊपर उठता है और एक अन्तर्मुहूर्त्त जितने स्वल्पकाल में ही केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लेता है।

सज्जनो! इन कषायों के भी पृथक्-पृथक् स्वभाव हैं। क्रोध एक गुण का विनाश करता है तो मान दूसरे गुण का। माया किसी गुण का तो लोभ किसी और ही गुण का नाश करता है।

कषाय का त्याग क्यों करना चाहिए? इस प्रश्न का संक्षिप्त

और सरस उत्तर यही है कि बुरी चीजों को छोड़ा जाता है और कषाय भी बुरी चीज है, अतएव वह भी छोड़ने योग्य है। कषाय आत्मा की शान्ति और निराकुलता का नाश करके क्षोभ, संताप और व्याकुलता उत्पन्न करती है, अतएव उसका त्याग करना ही योग्य है। कषायों में दुर्गुण रहे हुए हैं, अतएव इनको छोड़ना चाहिए। पात्र में गंदगी भरी हो तो पात्र भी गंदा हो जाता है यद्यपि दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं। पात्र भले चांदी का ही हो, जब तक उसमें गंदगी भरी है, वह गंदा ही कहा जाता है, मलीन ही माना जाता है और उसमें कोई अच्छी वस्तु नहीं रक्खी जाती। क्योंकि मनुष्य समझता है कि इसमें दूसरा पदार्थ डालने से वह भी खराब हो जाएगा।

इसी प्रकार जब तक आत्मा रूपी पात्र में कषाय भरी हुई है, तब तक उसमें सद्गुण नहीं ठहर सकते। कदाचित् कोई सद्गुण हो तो वह भी मलीन बन जाता है।

शास्त्रकारों का कथन है कि कषाय ही जीव को दुःख देने वाली है और जन्म-मरण के प्रवाह को चालू रखती है। यह इह-परलोक दोनों को बिगाड़ती है।

क्रोध से मनुष्य की प्रतीति नहीं रहती, विश्वास नहीं रहता। क्रोध प्रतिति का घातक है। क्रोधी मनुष्य 'क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्ट' होता है। उस पर कोई विश्वास नहीं कर सकता कि यह मेरा बन कर रहेगा या नहीं रहेगा? श्वान जब खुश होता है तो मुँह चाटने लगता है और क्रोधित हो जाता है तो काटने लगता है। क्रोधी पुरुष की भी ऐसी ही वृत्ति होती है। वह किसी पर राजी हो जाय तो उसकी प्रशंसा के पुल बाँध दे और नाराज हो जाय तो प्रशंसा करना तो दूर रहा, मरने-मारने को तैयार हो जाता है और उसकी

सारी शान धूल में मिलाते देर नहीं करता। अतएव क्रोधी पर कोई भरोसा नहीं करता और जब भरोसा नहीं करता तो मित्रता कर ही कैसे सकता है। इस प्रकार क्रोध से प्रीति और प्रतीति दोनों का नाश होता है।

मान विनय गुण का विरोधी है। अभिमानी पुरुष बड़ों का विनय नहीं कर सकता। वह आज्ञा का पालन करने में ही सकुचाता है। उसका अहभाव उसे नम्र नहीं होने देता।

विनय का अर्थ सिर्फ मत्था टेक देना नहीं है अपितु अपने से अधिक योग्य को आत्मसमर्पण कर देना है। अर्थात् जिसे अपना आराध्य और पथप्रदर्शक गुरु समझ लिया हो, पूरी तरह उसके वशीभूत हो जाना विनय है। जब तक शिष्य पूर्ण रूप से अपने आपको गुरु के सुपुर्द नहीं कर देता, तब तक गुरु के अन्तः करण में भी उसके लिए जैसा चाहिए वैसा आकर्षण उत्पन्न नहीं होता।

मान किस प्रकार आत्मविकास में बाधक होता है, यह बात बाहुबली स्वामी के उदाहरण से भलीभाँति समझी जा सकती है। उन्होंने भरत जी पर मुट्ठी उठाई तो इन्द्र ने हाथ पकड़ लिया और कहा-बड़े भाई पर मुष्टिप्रहार करना आप को शोभा नहीं देता।

बाहुबली मान गये, पर उठाई मुट्ठी खाली कैसे जा सकती थी ? अतएव उन्होंने अपने मस्तक के केशों का ही उससे पंचमुष्टि लोच कर लिया। वे साधु बन गये और भगवान् ऋषभदेव के पास न जाकर सीधे जंगल में चले गये। उनके मन में यह विचार था कि मेरे छोटे भाई पहले भगवान् के निकट दीक्षित हो चुके हैं। अब मैं उनके निकट जाऊँगा तो उन छोटे भाइयों को वन्दना करनी

क्योंकि वे दीक्षापर्याय में बड़े हैं। मैं यह सहन नहीं कर सकता। यही सोच कर वे अलग जंगल में चले गये और ध्यान में आरूढ़ हो गये। वे इतने तल्लीन हो गये ध्यान मे कि अपने शरीर की सुध-बुध ही न रही। उनके शरीर पर पक्षियों ने घौंसले बना लिए बेलें छा गई और उदेई चढ़ गई, मगर बाहुबली स्वामी ध्यान से विचिलित न हुए।

मगर अभिमान की वासना अन्त:करण से दूर न हुई और उसने सिद्धि मार्ग को रोक रक्खा। आखिर ब्राह्मी और सुन्दरी नामक उनकी दो बहिनें जो साध्वी बन चुकी थीं, उनके पास आईं। उन्होंने कहा—

वीरा म्हारा ! गज थकी ऊतरो
गच चढया केवल न होसी रे

अर्थात्—हे बन्धु! हाथी से नीचे उतरो। हाथी पर चढ़े चढ़े केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी।

यह भावपूर्ण वाक्य सुन कर बाहुबली की आत्मा जैसे जाग उठी। वे समझ गये कि मै मान के गज पर सवार हूँ और वही मेरे केवल ज्ञान में बाधक है। बस, ज्ञान के चाबुक की एक ही फटकार से मान-मतंगज भाग खड़ा हुआ। मान का निवारण होते ही विनय का प्रादुर्भाव हुआ और केवल-ज्ञान दर्शन प्राप्त हो गया।

अभिप्राय यह है कि जब तक उनके अन्तस्तल में मानचंदजी मौजूद रहे, तब तक वह महाप्रकाश प्रकट न हो सका और जब उसने विदा ली तो दिव्य और अनुत्तर ज्योति प्रकट हो गई।

सज्जनो! जहाँ मान है वहाँ ज्ञान का निवास नहीं होता

और जहाँ ज्ञान है वहाँ मान नहीं रहता। रात मे दिन और दिन में रात रहना सभव नहीं। मान का सिंह तभी तक दहाड़ता है जब तक ज्ञान का सर्च-लाइट उस पर नहीं पड़ता। सर्च-लाइट पड़ते ही वह किसी अंधेरी गुफा में विलीन हो जाता है।

तो ज्ञानी पुरुषों का कथन है और हमारा अनुभव साक्षी है कि मान से विनय का नाश हो जाता है। कोई चेला चेली हो या पुत्र पुत्री हो, जिसके हृदय में विनय नहीं है, वह मान के वशीभूत हो कर अपनी ही अकड़ में रहता है और अपने पूज्य का भी सन्मान नहीं करता। भगवान् ने फर्माया है—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुसगासे विणयं न सिक्खे।

दशवैकालिक, अ. ६

अर्थात् स्त्री पुरुष बेटा बेटी चेला चेली आदि कोई भी हो, जिसमें अकड़ क्रोध, मद अथवा प्रमाद है, वह गुरु के समीप शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। जो स्तभ के समान अकड़ा रहता है, वह ज्ञान नहीं पा सकता। खभा टूट जाएगा पर नमेगा नहीं। कूप में से पानी उसी डोली में आएगा, जो नमेगी, झुकेगी। अगर वह पानी की छाती पर बिना झुके यों ही जमी रहे तो खाली ही रहेगी इसी प्रकार आत्मा में जब विनय आती है तो ज्ञान की भी आवक होती है। इसी प्रकार क्रोधी भी शिक्षा से वंचित रहता है। गुरु कभी नरम तो कभी कठोर वचनों से भी शिक्षा देते हैं। वैद्य को अधिकार है कि वह रोगी को मीठी या कटुक दवा भी दे सकता है। सद्भावनाशील वैद्य देखेगा कि मीठी दवा से काम चल सकता है तो कटुक क्यों देगा? किन्तु रोग यदि ऐसा ही हो तो कटुक दवा

देने में भी संकोच नहीं करेगा। यही बात गुरु के विषय में समझिए। मगर जैसे रोगी वैद्य पर विश्वास रखता है, उसी प्रकार शिष्य को भी रखना चाहिए। तभी वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है। किन्तु शिक्षक के तर्जना ताड़ना करने पर शिष्य क्रोध करता है, गुरु का सामना करने को तैयार हो जाता है और लड़ने लगता है तो वह चिरकाल तक भी कोरे का कोरा ही रहेगा।

मद सेवन करने वाले को भी शिक्षा प्राप्ति का लाभ नहीं मिल सकता और प्रमादी भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। साधारणतया लोग प्रमाद का अर्थ आलस्य समझते हैं, किन्तु दोनों शब्दो के अर्थ में बहुत अन्तर है। आलस्य उतना गुणघातक नहीं है जितना प्रमाद। शास्त्र में प्रश्न किया गया है कि जीव को आलसी रहना अच्छा है या उद्यमी? भगवान् ने उत्तर दिया है किसी जीव का आलसी रहना अच्छा और किसी का उद्यमी हो कर रहना अच्छा। मगर प्रमाद एकान्ततः त्याज्य ही है।

धर्मकार्यों में आल्स्य करना बुरा है, अर्थात् सामायिक पौषध, परोपकार आदि में आलस्य करना उचित नहीं है। उद्यम करने से जो लाभ मिलने वाला है, आलस्य के कारण वह नहीं मिल पाता।

शास्त्र में एक प्रश्न और आया है। व है मित्र कौन है और शत्रु कौन है? इसके उत्तर में कहा गया है कि मान मनुष्य का महान् रिपु है। मान के समान आत्मगुणघातक कोई दूसरा दुश्मन नहीं है।

अभिमानी पुरुष के शत्रु प्रायः अधिक ही पाये जाते हैं। निरभिमानी का प्रथम तो कोई शत्रु नहीं होता और कदाचित् हुआ तो उसकी शत्रुता टिकती नहीं। इसी प्रकार अप्रमादावस्था जैसा मित्र नहीं। वह आत्मा के लिए अतीव हितकर है। उद्यम शीलता

भी आत्मा के उत्थान में सहायक है। अन्य मित्र हरदम साथ नहीं रहते किन्तु उद्यम मित्र सदैव साथ रहता है और सफलता की प्राप्ति में बराबर सहयोग देता है। उसके बिना सफलता नहीं मिलती।

जिस दुर्गुण के कारण जीव प्रकर्ष से अर्थात् उत्कटता के साथ मत्त-विषय-विकारों में आसक्त हो जाते हैं, वह प्रमाद कहलाता है। प्रमादी मनुष्य शिक्षा के लिए अपात्र होता है।

और आलस्य का अर्थ है सुस्ती। आलसी मनुष्य किसी का भला नहीं कर सकता तो बुरा भी नहीं कर सकता।

इस प्रकार जिनमें अभिमान, क्रोध, मद और प्रमाद इन चारों में से कोई दोष होता है, वह गुरु के निकट रह कर भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता।

सज्जनों! क्षीरसागर और घृतवर समुद्र जैसे सागर भरे हैं उनमें दूध और घी सरीखे स्वाद का जल भरा है, परन्तु वह उसी के लिए है जिसके पास पात्र है इसी प्रकार गुरु अगाध समुद्र के समान हैं, मगर ज्ञान वही प्राप्त कर सकते हैं, जिनमें पात्रता है। बाजार जाते हो तो पहले घर पर ही सोच लेते हो कि अमुक-अमुक वस्तु खरीद कर लानी है और उसी के अनुसार वस्त्र पात्र या थैला आदि ले जाते हो। अगर पात्र न हो तो बाजार में वस्तुएं होने पर भी आप कैसे लोगे? इसी प्रकार भगवान् के मार्ग पर चलने वाले गुरु के पास सभी कुछ है, पर पात्रता के बिना आपको कुछ नहीं मिल सकता।

कदाचित् आपके पास पात्र है परन्तु वह यदि गंदगी से भरा हुआ है तो उसमें डालने से अच्छी वस्तु भी गंदी हो जाएगी। तो विनय से ही मनुष्य में पात्रता आती है और प्राप्त ज्ञान निर्मल रहता है। विनीतता तभी आती है जब वह अपने आपको उच्च श्रेणी

के गुणवान् के सिपुर्द कर देता है।

कई अविनीत लड़के शिक्षक का अपमान कर देते हैं। यहाँ तक कि उद्दंड और अविनीत लड़के भारत के प्रधानमंत्री हृदयसम्राट् और विश्वशान्ति के अग्रदूत श्रीजवाहरलाल जी नेहरू को भी काली झंडियाँ दिखा देते हैं। यह सब अविनीतता का उग्र कुपरिणाम है। ऐसे विद्यार्थी अपने जीवन में कभी कामयाबी हासिल नहीं कर सकते। कहा भी है—

विद्या विनयेन शोभते।

विद्या की शोभा विनय से है। विनीत विद्यावान् के जीवन में बड़ी स्पृहणीयता आ जाती है, जब कि उद्दंड विद्वान् भी तिरस्कार का पात्र बनता है।

विद्या सीखने पर विद्यार्थी में विनय आना ही चाहिए। और विनय प्रकट होने के पश्चात् उसमें पात्रता आ ही जाती है। अध्यापक भी उसे प्रसन्नतापूर्वक, सुपात्र समझ कर, विद्यादान देता है।

कुपात्र को प्रथम तो विद्या मिलती ही नहीं है, यदि भाग्यवशात् मिल भी जाती है तो वह उसका दुरुपयोग करता है, जिससे उसे लाभ के बदले हानि ही उठानी पड़ती है। अगर स्थायी रूप से स्वस्थता प्राप्त करनी है तो दवा खाकर परहेज रखना नितान्त आवश्यक है। दवा खा लेने पर भी यदि बदपरहेजी की गई तो उसका दंड भी भोगना पड़ेगा।

तो ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पात्रता प्राप्त करने के लिए अपने से अधिक गुणी पुरुष की सेवा करनी पड़ती है।

एक राजा का एकलौता पुत्र था। राजकुमार हजारों लाखों में एक ही था क्यों कि वह माता-पिता का बड़ा आज्ञाकारी था। वह सदैव ऐसा व्यवहार करता था जिससे माता-पिता प्रसन्न हों।

हो चुका है। अब आप इन्हें ले जा सकते हैं। राजा इस पत्र को पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुआ और उपाध्याय के आश्रम में पहुंचा। राजा ने वहाँ कुमार से अनेक गंभीर प्रश्न किये तो कुमार ने सहज ही उनका उत्तर दे दिया। अपने सब प्रश्नों का उचित उत्तर पाकर राजा को बहुत सन्तोष हुआ।

राजा स्वयं सुशिक्षित था तो कुमार की परीक्षा ले सका पिता स्वयं ही निरक्षर भट्टाचार्य हो तो क्या खाक परीक्षा ले सकता है? पहले हमारी माँ-बहिनें भी पढ़ी लिखी होती थीं तो उनमे दिमागी शक्ति भी अधिक होती थी, उनकी विचारशक्ति काम करती थी और वे प्रत्येक कार्य विवेक पूर्वक करती थीं वे अपने बच्चों को घर में भी शिक्षा देती थीं। मगर आज स्त्री शिक्षा के प्रति समाज उदासीन है। यही कारण है कि बच्चों मे अच्छे संस्कार नहीं पड़ते।

जब कुए में पानी होगा तभी तो लोटे में आएगा। अतएव माता-पिता का शिक्षित होना अनिवार्य है।

राजा ने प्रसन्न हो कर राजकुमार के शिक्षक को बहुत बड़ा इनाम दिया, जिससे उसकी दरिद्रता दूर हो गई। जैसी नमाज वैसा ही नूर भी मिल जाता है। आज जैसी दक्षिणा देने वाले हैं वैसे ही पढ़ाने वाले भी हैं।

विदाई का समय आया और राजकुमार गुरु को प्रणाम करने गया, तो गुरुजी ने शुभाशीर्वाद के रूप मे, पीठ में तीन लकड़ियाँ लगा दीं। राजकुमार ने इस मार को चुपचाप सहन कर लिया चूं तक न की उसे पूर्ण विश्वास था कि आज तक गुरु जी ने मुझे अपने ही पुत्र के समान प्यार किया है तो अब भी शिक्षा के रूप में ही यह व्यवहार किया होगा। राजकुमार को दर्द तो अवश्य

हुआ, पर अविश्वास नहीं हुआ।

मगर राजा यह घटना देख कर घबरा उठा। सोचने लगा यह मेरे सामने और विदाई की वेला मे भी मारने से नहीं चूका तो अब तक इसने मेरे बच्चे के साथ कैसा सलूक किया होगा! राजा के साथ वजीर को भी बड़ा ख्याल आया। मगर राजा दीर्घदर्शी था, अतएव उसने उपाध्याय से ही पूछा-पण्डित जी, आपने राजकुमार के गुणों की और योग्यता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। फिर भी बिना किसी अपराध के, विदाई के समय, आशीर्वाद के बदले यह कठोर ताड़ना क्यों?

उपाध्याय ने कहा-राजन्, इस ताड़ना से कुमार को जो व्यथा हुई, उससे अधिक मुझे हुई। मानों मेरे ही शरीर पर यह मार पड़ी है। मगर इस कठोर कर्त्तव्य के पालन में एक रहस्य छिपा है।

राजा-मैं तो कुछ समझ नहीं पाया।

उपाध्याय-मैं समझाता हूँ। राजकुमार को राज्य का भार अपने कंधों पर वहन करना है। उसी के संबंध में जो शिक्षा देना रह गया था, उसकी पूर्त्ति अब की है। निरपराध को दंड देने और सताने से उसे कैसी पीड़ा होती है, यह बात अनुभव के बिना कल्पना मात्र से मालूम नहीं हो सकती थी। यह तीन लकड़ीयाँ कुमार को स्मरण दिलाती रहेगी कि निरपराध को सताना कैसा होता है।

राजा की शंका का समाधान हो गया।

दशवैकालिक सूत्र में बतलाया गया है कि जिस को शिल्पकला आदि लौकिक विद्या सीखनी होती है उसे भी अपने कलाचार्य की ताड़ना-तर्जना सहन करनी पड़ती है तो मोक्ष का मार्ग प्रदर्शित करने वाले गुरु के वचनों को कितना सहन करना चाहिए। वे

गुरु तो हित के अतिरिक्त अन्य कुछ सोच ही नहीं सकते।

मगर सब में इतनी सहनशीलता नहीं होती। जिसमें कषायों की प्रबलता होती है, वह गुरु की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता और अपनी आत्मा को विकास की ओर नहीं ले जा सकता। जिससे आत्मसाधना न हो सके, ऐसा बल मिला भी तो किस काम का? जिसमें बुद्धि है उसका बल भी काम का है और बुद्धि न हो तो बल भी बेकार साबित होता है—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।

बुद्धिमान् पुरुष सभी शस्त्रास्त्रों के बीच में से सकुशल निकल जाता है, परन्तु बुद्धि किसी बाजार में नहीं बिकती वह तो कर्मानुसार ही होती है।

बादशाह अकबर कभी-कभी बीरबल, से मजाक किया करता था। भरे दरबार में एक दिन कहा बीरबल, क्या रूप है तुम्हारा! खुदा ने तुम्हें रूप क्यों नहीं दिया? क्या तुमने परमात्मा की लंगोटी चुरा ली थी जिससे तुम्हें रूप नहीं दिया? बीरबल बड़ा प्रत्युत्पन्नमति था। उसने उत्तर दिया जहांपनाह! मैं सारा किस्सा बयान किये देता हूँ। बात यों हुई कि-जब विधाता ने सृष्टि रची तो पृथ्वी, आकाश, वृक्ष पौधे आदि सब कुछ बनाये, पर इतने से उसे सन्तोष नहीं हुआ। तब उसने पशु बनाये, फिर भी उसका मन नहीं भरा तो मनुष्य बनाये। मनुष्य बन गया तो उसके लिए आवश्यक चीजों की जरूरत महसूस हुई। वह भी बन गई तो मनुष्यों से कहा रूप, धन, बुद्धि आदि चीजों में से जिसे जो चाहिए सो ले लो। हजूर, आप लोगों में से कोई धन की तरफ दौड़ा तो कोई रूप की तरफ दौड़ा। उस समय मैं बुद्धि की तरफ गया और बुद्धि मेरे पल्ले पड़ी।

इस उत्तर से बादशाह और दरबारी लोग शर्मिन्दा हो गये। बीरबल ने मजाक ही मज़ाक मे सब को मूर्ख बना दिया और चुप करा दिया।

तो आशय यह है कि बुद्धि बाजार में नहीं बिकती। जिन्होंने ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम किया है, विद्या-दान दिया है, ज्ञानवान् की प्रशंसा की है, अवहेलना नहीं की है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

आज लाखों नौनिहाल समाज के अग ऐसे हैं जिन के माता पिता चल बसे हैं और जिन्हे जीवनोपयोगी साधन भी दुर्लभ हैं। कई माता-पिता ऐसे भी हैं जिनके पहले ही बहुसख्यक सन्तान है फिर भी वे आशा रखते है कि और हो जाय। ऐसे लोगों को कैसे समझाया जाय कि तुम किसी पड़ौसी विधवा के बच्चे को ही अपना लो और अपना पुत्र समझ लो तो क्या हानि है? मगर यह कषाय ही इस क्षुद्र भावना का कारण है। यही जीव को दु:ख दे रहे हैं। अपने दस बच्चे भी भारभूत नहीं लगते और पड़ोसी का एक बच्चा भी भार मालूम होता है। राग-रंग में, शादी में, मोसर मे, जीमनवार में हजारों फूंक देंगे, मगर अपने जाति भाई या धर्मबन्धु को साधारण सहायता देना भी भारी हो जाएगा। यह सब कषायों का ही खेल है और मानकषाय भी इनमें एक है।

(३) माया-जो कुटिल होते हैं, दगाबाज होते हैं और हृदय के काले होते हैं, वे अपने मित्रों से हाथ धो बैठते हैं। वे दुरगी चाल चलना चाहते हैं और वह छिपी नहीं रहती। तब उनके मित्र ही शत्रु बन जाते हैं।

(४) लोभ-यह कषाय सभी गुणों का घात करता है। यह पाप का बाप है और मानवजीवन में न जाने कितने रूप धारण

करके ज़हर घोलता है।

तो शास्त्रकारों ने बतलाया है कि कषायो को जीतने से क्या लाभ होता है? सज्जनो। लाभ की बात आपकी समझ में जल्दी आ जाती है। तो कषायो को जीतने वाला वीतराग बन जाता है ग्यारहवें गुणस्थान वाला उपशान्त कषाय वीतराग होता है और बारहवें गुणस्थान वाला क्षीणकषाय वीतराग होता है।

अर्थात् १२ वें गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान तक क्षीण कषाय वीतरागता होती है।' ऐसी वीतरागता प्राप्त कर लेने पर जीव को सुख-दुःख के प्रति समभाव प्राप्त हो जाता है और अनन्त आनन्द गुण का लाभ होता है। वह सोचता है कि सातावेदनीय जनित सुख भी कर्मजनित है और दुःख भी कर्मजनित है। मैं दोनों से पृथक् हूँ। अर्थात् मैं सोने की बेडियो से भी मुक्त और लोहे की बेड़ियों से भी मुक्त हूँ। वह सब दशाओं में एक रूप रहता है। सूर्य उदय काल में भी लालिमा से युक्त होता है और अस्त होते समय भी उसमें वही लालिमा दिखाई देती है। अस्त होने के समय भी वह मुरझाता नहीं है। उसे अफसोस नहीं होता कि मैं अब जा रहा हूँ, ओझल हो रहा हूँ। अफसोस तो उसे हो जिसने अपने जीवन से दुनिया को सुवासित न करके गदगी फैलाई हो। सूर्य ने तो अपने उदय से मलीन वातावरण को सुधार दिया, प्रकाशमय बना दिया। अगर दस-बीस दिन भी बादलों के कारण सूर्योदय न होवे अर्थात् बादलों मे ही रहे तो कपड़ो में से बदबू आने लगे, फसल का सुचारुरूप बढ़ना रुक जाय वातावरण गदा हो जाने से और नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाएँ।

सूर्य को अस्त होते समय विषाद क्यों हो? उसने यहां उदित होकर प्रकाश किया और जहां जाएगा वहीं प्रकाश करेगा। वह हमारी दृष्टि

से भले अस्त हो गया हो, वास्तव में तो वह सदैव प्रकाशमान ही है।

इसी प्रकार जिस की भावना सेवा करने की है, उस के लिए तो सभी क्षेत्र खुले पड़े हैं और जो कोरी बातें ही बनाना चाहते हैं, उन के लिए कोई क्षेत्र नहीं हैं।

सासू ने बहू से कहा—बींदणी चर्खा कात।

बहू बोली—आज तो रविवार है।

दूसरे दिन कहा तो उत्तर मिला— आज सोमवार है—ठंडा दिन है इस प्रकार बहाने करके उसने सातों ही दिन खराब बता दिये। जब मनुष्य के मन में सेवा करने की भावना नहीं होती तो कितनी ही माथापच्ची करो, कोई लाभ नहीं होता।

दुनिया के लोगो! सेवा परमधर्म है और इसका बड़ा महत्त्व है। फिर चतुर्विध संघ की सेवा का अवसर मिलना तो अत्यन्त दुर्लभ है। भगवान् ने फर्माया है कि चतुर्विध संघ की सेवा करते हुए जो उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो तीर्थंकर गोत्र का बंध हो जाता है। अरे, बनिये तो टोटे-नफे की बात को समझने में बड़े चतुर होते हैं, फिर भी तुम नहीं सोचते कि संघ सेवा और संघ को चलाने में कितना नफा है!

संघ की सुदृढता के लिये हमें—सतत प्रयत्नशील होना चाहिए। कई लोग संघ विघातक भी होते हैं, जो अपने किसी क्षुद्र स्वार्थ के पोषण के लिए जुडी हुई शृंखलाओं को तोडने में संकोच नहीं करते। वे मनचाही झूठी बातें बना २ कर लोगों की श्रद्धा को शिथिल करने के लिए वातावरण को दूषित करते हैं, फिर भी वे सच्चे श्रद्धाशील भगवान् महावीर के सेनानी होने का दावा करते हैं याद रखें इन संघ द्रोही धूर्त्तों, नामधारी भक्तों की मिथ्या बातों में सच्चे वीरोपासक नहीं आते है। वे

अपने मार्ग पर निरन्तर तीव्र गति से चलते ही जाते हैं। जो अपने जीवन का इस प्रकार सुन्दरतम उपयोग करेंगे, और सघ की शक्ति को सुदृढ़ बनाएँगे, वे अवश्य ही उच्च गति के अधिकारी बनेंगे। सघ भेद करने वालों का भविष्य अधकारमय है।

तो सेवा करने वालों के लिए सभी क्षेत्र खुले हैं। दीपक को जहाँ भी रक्खा जाएगा, वह वहीं प्रकाश करेगा। वही सेवा करने वाला सज्जन प्रत्येक अवस्था में, सूर्य की भाँति, सदा प्रसन्न ही रहता है। रोते वही हैं जिन्होंने मनुष्य का जीवन पाकर भी कुछ शुभ कार्य नहीं किया। मैं ने पहले कहा था—

जिंदगी ऐसी बना जिंदा रहे दिल शाद तू।
जब न हो दुनिया में तो दुनिया को आये याद तू।

सज्जनो! दुनिया किस को याद करेगी? राम भी याद है और रावण भी याद है। कस और कृष्ण तथा गाधी और गोडसे की भी याद है। ये भूल जाने वाले नहीं हैं। सज्जनों बात इतनी ही है कि राम, कृष्ण, गांधी किस रूप में याद हैं और रहेंगे और रावण, कंस, तथा नत्थु गोड्से किस रूप मे। सज्जनो जीवन किसका सार्थक है?

मुबारिक हैं जो दिल में दूसरों का दर्द रखते हैं।
आंखों में आंसू लब पै आहें सर्द रखते हैं॥

शायर कहता है— उसका जीवन धन्य है और उसका दुनिया मे आना सफल है, जिसके दिल मे दूसरो का दर्द समाया है। अपना दर्द तो सभी अपने दिल में रखते हैं। किन्तु जो दूसरों के दर्द को अनुभव करते हैं, उन का जीवन सार्थक है। मनुष्य अपने आराम के लिए रोता है, आंसुओं से मुँह धोता है, मगर दूसरों के लिए रोने वाले विरले ही होते हैं। जिनकी जबान पर सर्द

आहें हैं दूसरों के लिए और जो कहता है— 'भगवान् ! सब का भला हो' ऐसी जिसकी प्रवृत्ति है, भावना है, उसी का जीना जीना है। अतएव इस जीवन का वास्तविक लाभ उठाना चाहिए।

आज दीपमालिका का त्यौहार है। घर-घर में दीपक जलेंगे। सारा भारत दीपप्रकाश से प्रकाशित हो जाएगा। मगर सज्जनो, यह द्रव्य-प्रकाश है। ऐसा प्रकाश तो यहां प्रतिवर्ष होता रहता है। हमने अनन्त अनन्त वार ये मिट्टी के दीपक जगमगाये हैं। ज्योतिया जगीं और बुझ गईं। मगर आज के द्रव्य दीपक के प्रकाश से प्रेरित हो कर अर्थात् पाठ सीख कर ऐसी आत्मिक ज्योति जगाओ कि यह दीपावली कभी बुझे ही नहीं। केवल ज्ञान और केवल दर्शन का वह शाश्वत आलोक प्राप्त करो जो असीम है, अपार है, अनन्त और अक्षय है।

सामाजिक जीवन में कुछ उल्लास लाने के लिए अनेक प्रकार के त्यौहारों की कल्पना की गई है। इन में चार हिन्दुओं में और चार मुसलमानों में मुख्य रूप से मनाये जाते हैं। मुसलमानों के त्यौहार यह हैं—

सप्पमसप्पा — जिस में वे सेमीयां खाते हैं।
पिट्टमपिट्टा — जिस में वे छाती कूटते हैं। मुहर्रम—ताजीयों का त्यौहार।
कट्टमकट्टा — बकरा ईद के दिन वे बकरे काटते हैं।
भुक्खमभुक्खा — तीस दिन तक रोजे रखते हैं।
हिन्दुओं के भी चार त्यौहार हैं और वे यह हैं—
टाग ली — नौराते, जिसमे सिर ऊपर जौ टांगते हैं।
बांध ली — रक्षाबन्धन के दिन बहिन भाई को राखी बाँधती है।

देख लो — दीपावलि जिसे लोग देख कर खुश होते हैं।

फूंक लो — होली, जिसे लोग जलाते हैं।

यह सब लौकिक त्यौहार हैं और नाना प्रकार के आरम्भ-समारम्भ को लिये हुए हैं। यह ससार की मोहविडंबना है। इन से आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता। असली पर्व तो पर्युषणादि पर्व है जिसमें सच्ची आत्म ज्योति जगाई जाती है।

आज चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस भी है। भगवान् ने अपनी कठिन साधना के फलस्वरूप वह दिव्य ज्योति जगाई थी जो कभी बुझेगी नहीं। वे महापुरुष ज्योतिर्मय हो गये और हमारे लिए भी अलौकिक प्रकाश छोड़ गए। इस प्रकाश का लाभ उठा कर हम भी वही ज्योति प्राप्त कर सकते हैं।

जो भव्यात्मा सच्ची जीवन-ज्योति जगाएगा, वह निस्सन्देह संसार-समुद्र से पार हो जाएगा।

ब्यावर,
१-११-५६

जीवन सितार के तार

उपस्थित महानुभावो !

महापुरुषों का सतत प्रयास रहा है कि संसारी प्राणी येन केन प्रकारेण सुख के भागी बनें और दुःख से छुटकारा पाएँ। इसी करुणाभावना से प्रेरित होकर उन्होंने मानव-जीवन को सार्थक बनाने के लिए और उसकी पूरी पूरी कीमत वसूल करने के लिए अनेक प्रकार के साधन और अनुष्ठान बतलाये हैं। अनन्त-अनन्त काल से विविध प्रकार की यातनाओं के भाजन बने संसारी जीव उन साधनों का अवलम्बन लेकर राहत पा सकते हैं। सच तो यह है कि जगत् के प्राणियों के लिए महापुरुष अधिक से अधिक जो कर सकते थे, उन्होंने वह सब किया है। उन्होंने अपनी साधना के अनुभव और फल का समग्र भंडार दुनिया के सामने खोल कर रख दिया है।

अब उससे लाभ उठाना हमारी योग्यता पर निर्भर है। महापुरुषों ने जो भी फर्माया है उसे अपने जीवन में व्यवहृत करने को, कार्य रूप में परिणत करने की नितान्त आवश्यकता है। अगर हम उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलें तो हमारा जीवन निस्सन्देह सफल और सार्थक हो जाएगा। हम उस उद्देश्य को, जिसकी सिद्धि के लिए मानव जन्म मिला है, अवश्य सिद्ध कर सकेंगे।

इसके विपरीत अगर हम राग-द्वेष के वशवर्त्ती हो कर और कषायों से प्रेरित हो कर उस मार्ग से विचलित हो जाएँगे तो उस उच्च, पवित्र और प्रशस्त उद्देश्य से दूर जा पडे गे। फिर हमारा मार्ग और अधिक लम्बा हो जाएगा।

सज्जनो! अकल्याण अर्थात् दुःख के मार्ग को लम्बा करने के लिए, उसे बढ़ाने के लिए किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती। सहज दुर्भावनाएँ उसे अनायास ही लम्बा करती जाती है। परन्तु प्रत्येक पथिक की यही भावना होती है कि मेरा मार्ग जल्दी से जल्दी तय हो जाय और जहाँ पहुँचना है वहाँ पहुँच जाऊँ। इस प्रकार की भावना होने पर भी जब पथिक लक्ष्य से विपरीत मार्ग पकड़ लेता है और उस पर चलता है, परिश्रम करता है, रात-दिन चलता ही चला जाता है, फिर भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। यहि नहीं, उसका वह परिश्रम उसे लक्ष्य से दूर और दूरतर ही करता जाता है।

भद्र पुरुषो ! महापुरुषों ने हमारे लिए साफ-सुथरा और सरल मार्ग निर्धारित किया है। उस पर चलने से पथिक का जातिपंथ जन्म-मरण का मार्ग-जल्दी ही कट जाता है। मगर यह पथिक भूलभुलैया में, मिथ्यात्व के चक्कर में ऐसा फँस गया है कि असली पथभूल गया है और विपरीत पथ पर सरपट भागा जा रहा है।

हे पथिक! याद रख। वह मार्ग तुझे इच्छित लक्ष्य पर नहीं पहुँचाएगा। वह तो चौरासी के चक्कर मे ही फिराएगा। अतएव तुझसे जो भूल हो गई सो हो गई। अब भी सँभल जा। उलटी राह से मुँह मोड़ ले और सही राह पर आ जा।

जीवन की राह पर बहुत सँभल कर चलने की आवश्यकता है जीवन में कुछ कठोरता तो कुछ कोमलता भी होनी चाहिए।

इसमें दोनों की आवश्यकता है। जीवन को आप सितार के समान समझ सकते हैं। उसमें कई तार खूंटियों में लगे रहते हैं। सितार वादक जब चाहता है, तब उन्हें सख्त या ढीला कर लेता है। अगर तारों को पूरी तरह खींच दिया जाय तो मधुर स्वर नहीं निकलेगा और इसी प्रकार एकदम ढीला कर देने से भी। तो जो मधुर स्वर की झंकार है, आनंदित करने वाली स्वर लहरी है, वह उनमें से नहीं निकलेगी, क्योंकि वे तार आवश्यकता से अधिक खींच दिये गये हैं। ऐसा करने पर कभी-कभी वे टूट भी जाते हैं। और यदि अधिक ढीले कर दिये जाएँ तो भी उन में लचक नहीं आती और वे लटक ही जाते हैं। ऐसे तारों से भी मधुरस्वर नहीं निकल सकता। निष्णात सितारवादक तारों की चाबियों को अपने हाथ में रखता है और जब चाहता है तभी आवश्यकतानुसार खींच लेता है या ढील दे देता है। जब तार स्वर-लय में मिल जाते हैं तब उनमें से मधुर झकार झंकृत होती है और महफिल को मस्त बना देती है। मधुर स्वर निकलने से बजाने वाले और सुनने वाले को भी आनन्द आता है।

इसी प्रकार जीवन रूपी सितार में भी एक, दो, तीन तार लगाये जा सकते हैं या अधिक भी लगाये जा सकते हैं। मगर जितने तार अधिक बढते हैं बजाने वाले की जिम्मेवारी भी उतनी ही बढती है। फिर भी जीवन की सुन्दरता के लिए तीन तार तो आवश्यक ही हैं। मगर तीनों तारों को ठीक रूप से सँभालना आवश्यक है और उनका स्वर मिलाना है और सितार को नियंत्रण में भी रखना है। यों ही उज्जड़ की तरह हाथ मार देने से तूमड़ा फूट जाएगा।

देखते हैं कि जीवन रूपी सितार को तोड़ने वाले बहुत हैं

और जोड़ने वाले क्रम हैं। मगर सितारवादक यदि बुद्धिमान् हो, कलानिपुण हो और स्वर-ताल का ज्ञाता हो तो वह अपने जीवन सितार से सुन्दर, आनन्ददायक, मनोहर राग निकाल सकता है। जिससे स्वयं को भी और आसपास वालों को भी अपूर्व आनन्द की उपलब्धि हो सकती है।

सितार रूपी जीवन में वचन रूपी तार का बड़ा मोल है। वचन ही मित्र है और वचन ही शत्रु है। वचन की बदौलत ही मान और अपमान मिलता है। वाणी के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं।

एक वाणी ऐसी होती है जिससे होता हूआ युद्ध भी समाप्त हो जाय तथा दूसरी वह जिसके दुष्प्रभाव से शान्त युद्ध फिर भड़क उठे अतः वाणी पर सयम रखना आवश्यक है। हमारे शरीर में सुनने वाले दो हैं, किन्तु बोलने वाली जिह्वा एक है। विचार करने वाला मन भी एक ही है, हम एक समय में एक ही बात कह सकते हैं और एक ही चिन्तन कर सकते हैं।

तो मैं कहने जा रहा था कि हमारे जीवन के तार इतने खिंचे भी नहीं रहने चाहिए कि स्वर निकलना ही बन्द हो जाय और तारों के टूटने तक की नौबत आ जाय और इतने ढीले भी नहीं होने चाहिए कि लटक ही जाएँ और स्वर ही न निकले।

तो हमारा जीवन एक तीन तार वाला सितार है। उसमें मन, वचन और काय के तीन तार लगे हैं। उन्हें सँभाल कर उपयोग में लाने की आवश्यकता है। मन का तार इतना खिंचा भी नहीं होना चाहिए कि किसी की बात को मानने को तैयार ही न हो। शरीर में भी लचक होना अनिवार्य है। जब तक शरीर में लचक है तब तक सब क्रियाएँ बदस्तूर की जा सकती हैं। जब वह कड़क

हो जाता है तो फिर बेकाम हो जाता है। आग की भेंट कर देने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता। इसी प्रकार वचन की कठोरता भी अनेक विपत्तियों को जन्म देती है। अतएव जीवन में लचक चाहिए। जब शरीर का कोई हिस्सा कठोर हो जाता है तो मालिश की जाती है, औषध खाई जाती है और लचक लाने की कोशिश की जाती है।

हाँ, एक बात याद रखना। जब तक शरीर मे आत्मा है, तब तक लगाये हुए इंजेक्शन और दवाई आदि उपचार काम करते हैं। जब जीवराज जी की सवारी पधार जाती है जीव निकल जाता है तब इंजेक्शन, औषध या मालिश आदि कोई उपाय कारगर नहीं होता। शरीर का मुड़ना असम्भव हो जाता है। दुनिया उसे मुर्दा कहने लगती है, क्योंकि उसमें लचक नहीं रही, कठोरता आ गई है और वह शरीर अब काम में नहीं आ सकता।

अतएव भद्र पुरुषो! जीवन में इतनी कठोरता भी नहीं होनी चाहिए कि चाहे राष्ट्र की हानी हो, सघ भाड़ में जाय, धर्म डूबता हो तो डूबे, कुछ भी हो, पर मेरी बात पूरी होनी चाहिए।

सज्जनो! बात पूरी करो और शौक से पूरी करो, मगर कोई बात हो भी। अर्थात् उसके पीछे कोई योजना हो, सचाई हो, भलाई हो, विचारणा हो तो उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिए। ऐसी बात मनुष्य को हर कीमत देकर, प्राण दे कर भी पूरी करनी चाहिए। मगर ऐसा कुछ न हो और दुराग्रह हो तो वह बात नहीं बात है।

प्रत्येक मनुष्य को पहले विचारना चाहिए कि मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, समाज के लिए हितकर है अथवा अहितकर?

नदी में जब पूर आता है तो पानी मे इतनी ताकत होती

है कि वह बड़े-बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ कर बहा ले जाता है, क्योंकि वे झुकते नहीं हैं और अकड़े खड़े रहते हैं। वे वृक्ष ठोकरें खाते हुए कहीं के कहीं पहुँचते हैं और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर बैठते हैं। मगर वे छोटे-छोटे बेंत के वृक्ष, जिनमें लचक है, पानी आने पर फौरन झुक जाते हैं और पूर निकल जाता है तो फिर खड़े हो जाते हैं। वे मस्ती में झूमते रहते हैं। उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता।

वह मनुष्य ही क्या जो झुकने की जगह झुक न सके और खड़े रहने की जगह सीना तान कर खड़ा न रह सके। हमारे मन के तार इतने ढीले भी नहीं हो जाने चाहिए कि सत्य के लिए बात भी न कर सकें। आज समाज अनेक कुरूढ़ियों का अड्डा बना हुआ है। जाति-बिरादरी के कानून और रीती-रिवाज इतने असामयिक हो गये हैं कि लोग उनसे बेहद परेशान हैं। उनके बोझ से बुरी तरह दबे हैं और त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। तो उनके विरुद्ध आवाज उठाने की हिम्मत भी होनी चाहिए। मन में इतनी शिथिलता नहीं होनी चाहिए कि लोग गधे की तरह उस बोझ से लदे चलें और चूं तक न करें। मन के तारों को इतना ढीला भी नहीं कर देना चाहिए कि अपने मार्ग का चुनाव भी न कर सकें।

शास्त्रकार कहते हैं कि मन के तार यथोचित होने चाहिए। सारा जगत् एक तरफ हो और सत्यव्रती एक तरफ हो तो भी आखिर विजय सत्यव्रती की होगी। शर्त यही है कि सत्य के प्रति दृढ़ विश्वास होना चाहिए। सत्यव्रती परिस्थितियों को नहीं देखता वह अवसरवादी नहीं होता। उसके मन में सत्य के प्रति अनन्य निष्ठा होती है। मूर्ख जन वस्तुस्थिति को नहीं समझते और सत्यव्रती की अवहेलना करते हैं, परन्तु वह एक इंच भी अपने मार्ग से

पीछे नहीं हटता। उसे अटल विश्वास है कि वह जिस मार्ग पर चल रहा है वही ठीक है और मुझे इसी मार्ग पर आगे से आगे बढ़ना चाहिए।

इस प्रकार जिसके जीवन के तार मजबूत होते हैं उसमे से ऐसी मधुर ध्वनियाँ निकलती हैं कि जो कल बुराई कर रहे थे वही मुग्ध होकर यशोगान करने लगते हैं। जब उन्हें उसकी सत्यनिष्ठा का पता लग जाता है तब वे सत्य की क़दर करने लगते हैं।

सत्य दो प्रकार का है—प्रकट सत्य और गूढ़ सत्य। प्रकट सत्य वह है जो इन्द्रियों से प्रतीत हो जाता है। एक ने कहा और दूसरे ने सुन लिया। पर कोई-कोई सत्य ऐसा होता है जो व्यक्ति की आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है और बाहर प्रकाश में नहीं आता हमारे शरीर को तो सभी देख रहे हैं किन्तु इसमें सत्य रूप जो आत्मा विद्यमान है, वह नजर नहीं आती वह तभी दृष्टिगोचर होगी जब दिव्यदृष्टि प्राप्त कर ली जाएगी। अनन्त महापुरुषों ने आत्मदर्शन किये हैं, परन्तु उसी अवस्था में जब कि वे उसी के लिए कमर कस कर खड़े हो गए। इस प्रकार गूढ सत्य प्रकट रूप में दुनिया के रंगमच पर नहीं आता है।

कोई माता गूढगर्भिणी होती है। उसका उदर इतना सूक्ष्म होता है कि बच्चा पेट में होने पर भी देखने वाले को मालूम नहीं होता। अथवा जिस माता को गर्भ धारण किये दो-तीन मास ही हुए है, वह दूसरों को गर्भणी नहीं दीखती। परन्तु कोई माताएँ स्थूलोदरी होती हैं। उनका गर्भ जल्दी दिखाई देने लगता है। तो गूढ़गर्भिणी माता के गर्भ का पता भले दूसरों को न चले, परन्तु वह स्वय तो जानती है। ऐसी माता को पड़ौसिनों के कहने पर अपने गर्भ के विषय में शंकाशील नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो

गर्भ दूसरों के लिए अप्रकट है वह उसके लिए प्रकट है। वह सत्य है और आज न सही, समय आने पर अवश्य ही प्रकट होने वाला है और बालक उसकी गोद मे खेलेगा।

इसी प्रकार सत्यव्रती का सत्य भले दूसरों की समझ में न आये, पर उसे तो उसपर विश्वास रखना ही चाहिए और दृढ़तापूर्वक उसी मार्ग पर चलना चाहिए।

तो जीवन का बनाव बिगाड़ आपके हाथ में है। आप चाहें तो उसे बना भी सकते हैं और बिगाड़ भी सकते हैं। बिगाड़ने में कठिनाई नहीं होती, बनाने मे अवश्य कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

सज्जनों! हमारे जीवन के तार इतने सुन्दर होने चाहियें कि उनसे निकलने वाले स्वर मधुर हों और आत्मा को दिव्य आनन्दमय बना दे। इस प्रकार के तार सज्ञी पचेन्द्रिय को ही मिलते हैं। एकेन्द्रिय मे तो एक ही तार होता है और वह भी अधूरा। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि का वचन का भी तार मिला है, पर वह स्वरविहीन है, क्योंकि उनकी वाणी अव्यक्त है। वे ऐसी वाणी नहीं बोल सकते जिससे दूसरों को धर्म-कर्म की मधुर शिक्षा मिल सके।

संज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य को ही पूर्ण झंकृत, स्वरलय सहित तार मिले हैं। अतएव उन्हें बहुत सावधानी के साथ काम में लाना चाहिए।

तो मन के तार को इतना खींचना भी नहीं चाहिए कि वह हठी हो जाय और सत्य को छोड़दे। और इतना ढीला भी नहीं छोड़ देना चाहिए कि जो जैसा कह दे उसी के पीछे लग जाए। अपनी समझ बूझ भी होनी चाहिए।

आज समाज में कई युवक हैं जो कुछ काम करना चाहते हैं, पर बाधाएँ आने पर वे हताश हो जाते हैं। यह गहरी लगन के अभाव का परिणाम है। जिसमें गहरी लगन होती है, उसमें प्रबल साहस आ जाता है और वह अपने साहस के बल पर समस्त बाधाओं को हटाता हुआ अपने मार्ग पर अग्रसर होता जाता है आपत्तियों और बाधाओं से निराश, हताश, और उदास न होना ही जीवन का लक्षण है।

बने-बनाये रास्ते पर तो कीड़े-मकोड़े भी चलते हैं, मगर बहादुरी उन वीरों की है जो नया रास्ता बनाते हैं। पहाड़, नदी, नालों को पार करके रास्ता बनाने वालों का ही नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जाता है। पकी पकाई खाने वाले बहुत मिल जाते हैं, पर पकाने के लिए कला चाहिए।

भगवान् महावीर स्वामी के सामने डामर की साफ सुथरी सड़क नहीं थी। सीधी बिछी हुई रेल की पटड़ी नहीं थी। ऊबड़-खाबड़ कंकरीले पथरीले मार्ग थे राह मे नदी-नाले पहाड़ थे। मगर उस लोकोत्तर मनीषी ने अकेले ही ट्रेक्टर बना कर साफ-सुथरा रास्ता बनाया और तभी उनके लिए 'मग्गदए' अर्थात् मार्गप्रदाता विशेषण लगाया गया है। उन्होंने न केवल अपने लिए वरन् दुनिया के लिए सुगम और सरल राजमार्ग का निर्माण कर दिया। उनके सामने बड़ी-बड़ी चट्टाने थीं, उन्हें उन्होंने तोड़ दिया। बड़े-बड़े सागरों को पाट दिया और जप-तप की कठोर साधनाओं द्वारा भव्य जीवों के लिए मोक्ष का सुगम मार्ग बना दिया। उस समय जातिवाद का और वर्णवाद का बोलबाला था और धर्म के ठेकेदारों ने मनुष्यजाति को नाना प्रकार की रूढ़ियों, परम्पराओं, भ्रान्तियों के पाश में जकड़ रक्खा था। भगवान् ने अहिंसक पद्धति से

उन सब का मुकाबिला किया और अनेकान्त वाद के द्वारा एकान्त का-दुराग्रहों का, मूलोच्छेदन किया। तव चारों वर्णों के लिए मोक्ष का द्वार खुल गया और उन्हें उस मार्ग पर चलने का पूरा-पूरा अधिकार मिल गया।

बहादुरी उनकी है जो कठिनाइयों को सह कर नया रास्ता बनाते हैं और दुनिया को उस पर चलाते है।

तो मैं कहने जा रहा था कि हमारे जीवन में सोचने-विचारने की शक्ति होनी चाहिए। जो विचार हितावह हैं धर्म, देश, समाज, और जाति का उत्कर्ष करने वाले हैं; उन पर कुठाराघात करना और उठ रहे समाज को चेतना को दबाने का प्रयत्न करना हिंसा नहीं तो क्या है?

अभिप्राय यह है कि मनुष्य के जीवन में इतनी दृढता होनी चाहिए कि वह सत्य को आगे रख कर बढ़ता जाय और रुके नहीं। कोई भी विघ्नबाधा उसके पथ का अवरोध न कर सके। समझ आने पर विरोधी भी उसका अनुकरण करेंगे।

इसी प्रकार हमारे वचन के तार भी कठोर और लचक वाले होने चाहिएं। ऐसा भी प्रसंग आता है कि वचन मे तीव्रता लानी पड़ती है। समाज संघ अथवा राष्ट्र का कोई काम हो और किसी निर्णय पर पहुँचना हो, वहाँ लचकदार भाषा का प्रयोग किया जाय और सिंहनाद न किया जाय तो काम बनने वाला नहीं है-नैया पार होने वाली नहीं है। मर्द में मर्दानगी होनी चाहिए। उसे आगे बढ़ कर सत्य को प्रकट करना चाहिए और समाज पर प्रभाव डालना चाहिए।

जीवन का तीसरा तार शरीर है। उसमें भी कोमलता और उचित कठोरता होनी चाहिए। शरीर में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि

वह कठिन से कठिन कार्य करने में भी सक्षम हो। पथ में आने वाले कष्टों को धैर्य के साथ सहन कर सके। जहाँ मोड़ने की जरूरत हो वहाँ मुड़ भी जाय और सीधा चलने की आवश्यकता होने पर सीधा भी चल सके। जब जीवन में यह चीज आ जाएगी तो सारी समस्याएं शीघ्र ही सुलझ जाएँगी। आज समस्याएँ सुलझ नहीं रही हैं बल्कि उलझती जा रही हैं, इसका मुख्य कारण यही है कि हम लचकने की जगह लचकना नहीं जानते और कठोर रहने की जगह कठोर रहना नहीं जानते। जब कठोर बनने की जगह लचकीले बन जाते हैं, स्वार्थसिद्धी या मतलब परस्ती की जगह पिघल जाते हैं और मोम बन जाते हैं तो समस्या नहीं सुलझती। किन्तु जब कोई धर्म कार्य करने का अवसर आता है तो सेठजी इतने कठोर बन जाते हैं कि लोहा भले पिघल जाय पर वे नहीं पिघल सकते।

प्रश्न किया गया है कि तुच्छ से तुच्छ कौन है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि मागने वाला तुच्छ से तुच्छ है, जो पुण्याई हार जाने के कारण दर-दर फिरता है और उदर पूर्त्ति के लिए अन्नदाता, भूखे को रोटी मिल जाय, की पुकार लगाता है सब की दुतकार और फटकार सुनता है वह तुच्छ से तुच्छ है। मगर उससे भी अधिक तुच्छ वे हैं जो माँगने वाले को देने से वस्तु होते हुए भी नटजाते हैं। जिनके मुँह से मनाई निकलती है।

सब से पहले वे मुए, जो कहुँ मांगन जाहिं।
उनतें पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥

अरे नर याद रख, भिखारी तेरे द्वार पर माँगने आया है, यह तेरा सौभाग्य है। तुझे अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए। सोचना चाहिए कि इतनी बड़ी आबादी होने पर

तरह रखता है। इसके विपरीत, घर में सोना, चांदी आदि के ढेर हैं, दौलत से भंडार भरे हैं, परन्तु यदि आज्ञाकारी पुत्र नहीं है, बल्कि दुर्विनीत, दुर्व्यसनी और दुष्ट बेटा है तो माता पिता को पल भर भी चैन नहीं मिल सकता। वह सारी दौलत को जल्दी ही ठीकाने लगा देता है। बुढ़ापे में माँ-बाप की जिंदगी बिगाड़ देता है।

मनुष्य सोचता है कि दूध उज्ज्वल है। किन्तु यश इस से भी अधिक उज्ज्वल है। वह यश उन्हीं को मिलता है जो यश के काम करते हैं अपयश योग्य काम करके आप यश चाहेंगे तो यह बात हर्गिज़ बनने वाली नहीं है।

काजल तो पानी और साबुन से धुल जाता है किन्तु लगा हुआ कलंक काजल से भी अधिक काला है। जीवन पर्यन्त उसका धुलना कठिन है अतएव पहले ही सतर्क रहना चाहिए कि कलंक न लगने पावे। ऐसा कोई काम मत करो जिससे आपकी जाति, कुल या माता-पिता का नाम बदनाम हो। अपने जीवन-को स्वच्छ रक्खो।

मदिरा से अधिक मत्त बनाने वाला कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि मान मदिरा से भी अधिक उन्माद का जनक है। शराब का नशा तो दो-चार घंटे में उत्तर भी जाता है, मगर अभिमान का नशा मर जाने पर भी नहीं उतरता।

और शक्कर से भी अधिक मीठा क्या है? इसका उत्तर है—गर्ज़। गर्ज़ में जितनी मिठास है, उतनी शक्कर में भी नहीं है।

लोहे से भी अधिक कठोर कौन है? सूम-कंजूस मनुष्य लोहे से भी ज्यादा कठोर है। न स्वयं दान दे सकता है। न दूसरों को देने देता है। वह सोचता है— दूसरों ने दान दिया तो कहीं मेरी भी बारी न आ जाय।

अरे भले लोग, दान करने से क्यों डरता है ? आखिर तो रोते-झींकते और विलबिलाते हुए सर्वस्व का, यहाँ तक कि शरीर का भी दान करके अपना रास्ता लेना पड़ेगा। स्वेच्छा से दान करेगा तो कुछ साथ ले जाएगा। न करेगा तो सभी कुछ छोड़ जाएगा। विवाह शादी में, दवा-दारू में मुकदमेबाजो में हजारों खर्च हो जाते हैं, पर सत्कार्य में पाँच रुपया खर्च करना भी अखरता है। सच है, हराम का माल हराम में ही जाता है। पुण्यवान् पुरुष ही धर्मकार्य में खर्च कर सकते हैं।

तो अस्तिसुख अर्थात् सब अनुकूल सामग्री मिल जाने के सुख को प्राप्त करना बहुत कठिन है और उस सुख को वही भोग सकता है जिसके जीवन में संतोष होता है। जो लोभी और असन्तोषी है वह सोचता है कि कहीं दो पैसे घर में से न निकल जाएँ, अन्यथा थैली नरम हो जाएगी। किन्तु भाई, थैली सख्त भी होनी चाहिए और नरम भी होनी चाहिए। थैली पूरी भरी होती है तो सख्त होती है, पर समय आने पर खर्च करने के लिए ही तो सख्त की जाती है। थैली के सख्त होने की सार्थकता उचित ढंग से उसके नरम होने में ही है।

सज्जनो ! यदि सुनकर कुछ कर लिया— बना लिया तो समय सार्थक हुआ, अन्यथा मैंने सुना दिया और आप ने सुन लिया। यों व्यसन दोनों का पूरा हो गया। आना—जाना क्या है ! अतएव जो सुनते हो उसे समझो, उस पर मनन करो और उसी के अनुसार व्यवहार करने का अभ्यास करो। जीवन के इन मधुर तारों को उचित रूप से झंकृत करो

यह जबान कछुए की गर्दन नहीं है कि जब चाहा भीतर घुसेड़ ली और जब इच्छा हुई तो बाहर निकाल दी। मर्दों की

जबान ऐसी नहीं होती । मर्द सोच-समझ कर कहता है और जो कहता है उसे पूरा करके दिखाता है। राम के मुख से निकल गया—'आइए लंकाधिपति विभीषण ! उस समय लका का राजा रावण मौजूद था। मगर जो मुख से निकल गया सो वज्रलेख हो गया । आखिर उसे लंकाधिपति बना ही दिया। रावण के साथ घोर सग्राम हुआ और उसमे हजारों-लाखों माँ के सपूत कट गए, मर गए, खून की नदियाँ बह गई । रावण भी कम शक्तिशाली नहीं था। वह तीन खंड का स्वामी था— प्रतिवासुदेव था। उसकी हुंकार से विरोधी काँप उठते थे—

कांपते थे जिन के हूँ के से जमीं और आसमां
दब चुके हैं खाक में अब हाँ वो हूँ कुछ भी नहीं ॥

रावण की 'हूँ' सुन कर दुश्मनों की छाती फट जाती थी। ऐसे-ऐसे बहादुर भी बिना दान पुण्य और धर्म का आचरण किये मर गये तो अग्नि में जला दिये गये या मिट्टी में दफना दिये गये। आज उनका कुछ भी शेष नहीं है ।

रावण बड़ा बलशाली था और विरोधियों का मुकाबिला करने वाला था। जब युद्ध हुआ तो राम की सेना भाग गई। उधर लक्ष्मण को शक्तिबाण लगा हुआ था। सीता अब तक रावण की अशोकवाटिका में कैद थी। इस दशा में राम विचारमग्न खड़े थे। ग्रन्थकार कहते हैं— उस समय सुग्रीव ने देखा कि राम चन्द्र जी की आँखों में से भी आंसू आ गये हैं! तब उस ने राम से पूछा— इतनी चिन्ता का क्या कारण है! जब आप जैसे कर्मपरायण योद्धा भी मुसीबत के समय घबरा जाएँगे तो हमारे जैसों की क्या हालत होगी ?

उस समय राम चन्द्र जी ने सुग्रीव को जो उत्तर दिया, उससे उनकी महत्ता टपकती है। वे बोले— मुझे माता-पिता के वियोग का शोक नहीं, अयोध्या का राज्य चले जाने की चिन्ता नहीं, सीता के अपहरण का भी खेद नहीं और अनुज लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने का भी गम नहीं। मुझे रण भूमि में अकेले रह जाने की भी चिन्ता नहीं। मुझे सब से बड़ी और मर्मवेधी व्यथा है तो यही कि मैंने विभीषण को लंकाधिपति कह दिया था और यह वचन पूरा होता नहीं दिखाई देता।

उन्होंने आगे कहा— भाग्य में होगी तो माता-पिता की सेवा का अवसर मिल जाएगा। शरीर से दूर होकर भी मैं अन्त करण से उनके सन्निकट हूँ। लक्ष्मण वासुदेव है और दुनिया मे उसे मारने वाला कोई नहीं है। मनुष्य की क्या चलाई, देव भी उसे नहीं मार सकता। सीता की चिन्ता भी नहीं, क्योंकि वह पतिव्रता है और अपने धर्म पर दृढ़ है। वह प्राण दे देगी पर धर्म से च्युत न होगी। मेरे साथी समर की भीषणता को सहन न कर सकने के कारण चले गये और रणभूमी छोड़ कर मै अकेला रह गया, इसका भी मुझे दु ख नहीं है। मेरा सब से बड़ा दु ख यही है कि मैं अपने वचन को अब तक पूरा न कर सका। विभीषण को लंका का राज्य न दे सका।

सज्जनों! इस उत्तर से स्पष्ट विदित होता है कि राम के सामने राज्य, भाई, माता-पिता, पत्नी और सेना का उतना मूल्य नहीं था, जितना अपने वचनों का था। तो जिस ने अपने वचनों का दिवाला निकाल दिया, उस से बड़ा दिवालिया दूसरा कोई नहीं है।

तो हमारे जीवन के तीनों तार मजबूत होने चाहिए। ज्यादा

तार होंगे तो ज्यादा स्वर निकलेंगे। अगर एक भी तार अच्छा होगा तो उसमें से भी मधुर ध्वनि निकलेगी। परन्तु दस-बीस तार भी इकट्ठे हो गए, मगर उनमें समुचित सख्ती और लचकपन न हुआ तो वे भी किसी काम के न होंगे। गांधी जी की जीवन-सितार के तारों में सामंजस्य था तो उसमें से ऐसा मधुर स्वर निकला कि विश्व मोहित हो गया, देश में नूतन चेतना और स्फुर्ति जाग उठी और भारत-माता के बंधन, जो सदियों से उसे जकड़े थे टूट गये।

सज्जनों! जीवन में दोनों चीजों की आवश्यकता है खींच भी हो, लचक भी हो, यह नहीं कि जो चाहा सो कह दिया। कहना आसान है, करना कठिन है। परन्तु मनुष्य को अपने वचन का, कर्म का और नियम का पक्का होना चाहिए। जीवन सदैव टिकने वाला नहीं है। अतएव ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिस से भविष्य महान् और उज्ज्वल बने और दूसरों का भी भला हो। जो भव्यात्मा ऐसा करते हैं, वे क्रमशः संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर,
१–११–५६

भगवान् की विभुता

उपस्थित महानुभावो !

अभी आपने श्रीमत् सूयगडाग सूत्र की २६ काव्यमय गाथाएँ सुनी, जिनमे श्री सुधर्मा स्वामी ने चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की स्तुति की है। उन्होंने भगवान् को अनेक उत्कृष्ट उपमाओं से उपमित किया है। वे कहते हैं—भगवन् ! आप पाँच मेरु पर्वतों मे जम्बू द्वीप के मेरु के समान है। उस में चार मनोमोहक वन है जो विविध प्रकार के अतिशय सुन्दर फलों, फूलों, जड़ियों, बूटियों एवं रत्नों से सुशोभित हैं। जहाँ देवगण भी आकर नाना प्रकार की क्रीडाएँ करते हैं। वह सुमेरु ज्योतिष्क देवो की गति का केन्द्र है। ज्योतिप चक्र उसके चहुँ ओर घूम रहा है। मेरु पर्वत बड़ा गंभीर गहरा और ऊंचा है। हजार योजन गहरी जड़ होने के कारण वह अकप है ९९ हजार योजन ऊंचा है। वह उर्ध्व लोक, मध्यलोक, और अधोलोक—तीनों लोकों का स्पर्शकरता है। भगवान् को इस प्रकार के मेरु की उपमा दी गई है।

विशेप रूप से मेरु पर्वत का निर्माण एकेन्द्रिय जीवों के पिण्ड से हुआ है। वह पृथ्वीकाय रूप है। उसके तीन खंड हैं और उनके ऊपर चूलिका है जो चालीस योजन ऊँची है। जैसे आप के शरीर

के तीन भाग— नीचे का, मध्य का और ऊपर का है और सब के ऊपर चोटी है. ऐसी ही सुमेरु की भी चूलिका है।

जैसे सब पर्वतों में मेरु पर्वत ऊँचा है. वैसे ही हे भगवान्! आप मानव समाज में सर्वोपरि हैं, उच्च हैं। जैसे सुमेरु पर्वत गंभीर और अचल है। इसी प्रकार हे भगवन्! आप भी गंभीर और अचल हैं। आपकी श्रद्धा मेरु की तरह ऊंडी-गहरी है। कोई भी पाखंडी देव-दानव आपको अपने लक्ष्य से डिगाना चाहे तो भी आप चलायमान होने वाले नहीं हैं। हाँ, कदाचित् मेरु पर्वत तो चलायमान हो जाय परन्तु आप तीन काल में भी चलित नहीं हो सकते।

मैं बतला चुका हूँ कि तीन कारणों से देश भूकम्प और तीन कारणों से सर्वभूकंप होता है। जब सर्वभूकम्प होता है तो भूमि से सम्बन्ध होने के कारण मेरु पर्वत भी कंपित हो जाता है। यह नहीं हो सकता कि कुम्हार का चाक घूमे परन्तु उस पर (स्थित) मिट्टी का पिण्ड स्थिर ही बना रहे। पिण्ड का चक्र के साथ सम्बन्ध होने के कारण वह घूमेगा ही, चक्र स्थिर होता है तो पिण्ड भी स्थिर रहता है चक्र के घूमने पर पिण्ड भी घूमता है। इसी प्रकार पृथ्वी के कांपने पर मेरु भी अवश्य काँपता है। इस प्रकार सर्वभूमिकम्प होने पर मेरु तो चलायमान हो भी जाता है, पर भगवान् को विचलित करने वाला कोई नहीं है। लगातार छह महीनों तक संगम देव ने भगवान् को घोर कष्ट दिये, फिर भी वे चलायमान नहीं हुए। मानव की तो शक्ति ही क्या है, देव दानव भी भगवान् को चलायमान नहीं कर सकते।

मेरु पर्वत मे चार वन हैं— (१) भद्रशाल वन (२) नन्दनवन, (३) सौमनस वन और (४) पंडकवन। इसी प्रकार भगवान् की

नेश्राय में भी चार संघ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। जैसे चार वनों से सुमेरु की शोभा है, उसी प्रकार भगवन्! आपकी नेश्राय में भी चतुर्विध संघ की फुलवाड़ी खिल रही है, फल-फूल रही है। वहाँ तो एकेन्द्रिय फूल खिलते हैं और नासिका को आनन्द देते हैं, किन्तु ये साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका जप-तप आदि धर्मसाधना करकेजो आत्मकल्याण करते हैं और उनके जीवन से जो महक निकल रही है, वह उन फूलों से भी अधिक आनन्द-दायक है। उनकी ज्ञान-ध्यान की फुलवाड़ी बड़ी ही सुन्दर खिल रही है। तो हे प्रभो! यदि आप मेरु पर्वत के समान हैं तो यहाँ चतुर्विध संघ रूपी चार वन खिल रहे हैं और उनमें ज्ञान, ध्यान, तप, जप, रसपरित्याग आदि की फुलवाड़ी खिल रही है।

और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ने अंशतः तीनों लोकों का स्पर्श किया है, उसी प्रकार भगवन्! आप भी तीनों लोकों में व्यापक हैं क्योंकि आपका ज्ञान और दर्शन विश्वव्यापी है। भगवान् का ज्ञान न केवल तीनों लोकों में अपितु अलोक में भी व्याप्त है। उस पूर्ण ज्ञान से ही वे भगवान् है। ज्ञान नहीं तो भगवान् कैसे! पूर्ण ज्ञान ने ही भगवान् रूप प्रदान किया है जिसमे अपूर्ण ज्ञान है और जो भूल जाता है, वह भगवान् नहीं साधारण इन्सान है। भगवान् तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही कहलाते हैं।

इस प्रकार भगवान् लोकालोक मे व्याप्त हैं जब कि मेरू पर्वत सिर्फ लोक में ही है और वह भी अंशतः ही तीन लोकों का स्पर्श करता है। मेरू पर्वत की ऊँचाई वगैरह सीमित है। वह दस हजार योजन चौड़ा है और लाख योजन लम्बा है। अतएव तीन लोकों के थोड़े-थोड़े हिस्से में व्याप्त है, किन्तु प्रभो! आप तो सारे

लोक और अलोक में भी समाये हुए हैं। लोक तो सीमित है, असंख्यातप्रदेशी है, मगर अलोक अनन्त है, असीम है।

कहते हैं-ईश्वर विभु अर्थात् सर्वव्यापी है, परन्तु शरीर से तो लोकव्यापी भी नहीं हो सकता। अगर ईश्वर शरीरधारी है तो हमारा ही भाई-बंद है। जैसे हम जन्मते-मरते हैं, वैसे ही उसे भी जन्मना-मरना पड़ेगा। शरीरधारी पर शरीर का असर अवश्य होता है। शरीर की प्राप्ति कर्म से होती है। गीता में भी शरीर की उत्पत्ति वासना से बतलाई गई है। जीव को योनि की प्राप्ति वासना से ही होती है। जब तक वासनाएँ हैं तब तक नवीन-नवीन शरीर धारण करना पड़ेगा। वासनाओं का निश्शेष हो जाना ही निश्श्रेयस-मोक्ष है।

तो मैं कह रहा था कि ईश्वर को सर्वव्यापक मानने में जैनों को भी आपत्ति नहीं है, किन्तु जिस अपेक्षा से वह सर्वव्यापक है, उसी अपेक्षा से स्वीकार करना चाहिए। युक्ति-युक्त बात स्वीकार करने में ऐतराज नहीं है। पाँच और पाँच दस होते हैं, इस सत्य को संसार के किसी भी धर्म वाले को मानने में आपत्ति नहीं हो सकती। अगर कोई नौ कहता है तो वह बुद्धू कहलाएगा। भले ही वह हठ पकड़े रह कर पाँच-पाँच को नौ कहता रहे, पर कोई अकलमंद इस बात को स्वीकार नहीं करेगा।

तो ईश्वर को जो सर्वव्यापी माना है सो शरीर से नहीं, क्योंकि इतना बड़ा शरीर होता ही नहीं है। अगर एक व्यक्ति का शरीर इतना बड़ा हो जाय तो दुनिया के दूसरे लोग और पदार्थ कहाँ जाएँगे? जब ईश्वर ही समग्र विश्व में ठसाठस भरा होगा तो दूसरी वस्तुओं को ठहरने को स्थान ही नहीं रहेगा। इस तरह तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।

मनुष्य को कथन करने से पहले वस्तु स्वरूप को भली भाँति समझ लेना चाहिए। सोच लेना चाहिए कि इस कथन में पूर्वापरविरोध तो नहीं

है, आपस में टक्कर तो नहीं है, शास्त्र या युक्ति से असंगति तो नहीं है। इस प्रकार सोच-समझ कर बोलने वाला व्यक्ति ही प्रतिष्ठा पा सकता है। अन्यथा उस के कथन की कुछ भी कीमत नहीं रहती।

सच तो यह है कि ईश्वर शरीर से आकाश के एक प्रदेश में भी व्याप्त नहीं है, क्योंकि ईश्वर अशरीर होता है। ईश्वर का शरीर होगा तो वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं हो सकता। वस्तुतः ईश्वर निराकार, निर्विकार, निराधार और अजर-अमर है। उसे किसी का आधार अपेक्षित नहीं है। वह न किसी पुरुष का आश्रय लेता है और न किसी पदार्थ का। जिसमें पूरी शक्ति नहीं होती, वही पराश्रयी होता है।

निराकार निराधार होता है। आकाश को किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती, दूसरे पदार्थों को ही आकाश आदि आधार की जरूरत होती है। आकाश दूसरे पदार्थों को अवकाश देता है, उसे दूसरे से अवकाश लेने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर साकार होता तो उसे दूसरे के सहारे की आवश्यकता होती, मगर वह निराकार है, अतएव निराधार भी है।

भगवान् का कोई रूप नहीं है-वे स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि रूपों से अतीत हो चुके हैं। ये मार्के सब खत्म हो चुके हैं। वास्तव में यह मार्के ही दुःख के कारण हैं। ईश्वर वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से अतीत है।

शास्त्र बतलाते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है तो इसमें आपत्ति ही क्या है? किन्तु यह बात ध्यान में रहनी चाहिए कि वह व्यक्तिरूपेण नहीं वरन् शक्तिरूपेण व्यापक है। जिस कमरे में दीपक रक्खा है, उसमें वह द्रव्य रूप से व्यापक नहीं है, मगर प्रकाश रूप से व्यापक है। इसी प्रकार ईश्वर अपनी अपरिसीम एवं अप्रतिहत

ज्ञानशक्ति से सर्वव्यापी है।

कमरा बड़ा हो या छोटा, दीपक अपने प्रकाश से उसे व्यापक कर लेता है। मगर इस प्रकार व्यापक होने पर भी अन्य पदार्थों की अवगाहना मे बाधक नहीं होता। उस कमरे में कोई भी स्थूल पदार्थ रक्खे जा सकते हैं। हाँ, यदि प्रकाश की तरह मृत्तिकामय दीपक ही समग्र कमरे में व्याप्त हो जाय तो अन्य पदार्थों के ठहरने को अवकाश नहीं रहेगा। वैसे तो प्रकाश भी पुद्गल है, साकार है और अष्टस्पर्शी है। अष्टस्पर्शी हुए विना कोई वस्तु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होती। ऐसी अवस्था में भी वह किसी के आने-जाने या ठहरने में बाधक नहीं होता। फिर परमात्मा तो निराकार है और उसके गुण भी निराकार हैं। वह कैसे बाधक हो सकता है?

निराकार के गुण निराकार और साकार के गुण साकार होते है। दीपक, तेल, बत्ती, सब साकार हैं तो उनसे उत्पन्न होने वाला प्रकाश भी साकार है।

पुद्गल-पुद्गल में भी अन्तर होता है। हम दिया, तेल और बत्ती को पकड़ सकते हैं, मगर प्रकाश को नहीं पकड़ सकते। फूल को पकड़ना संभव है. मगर क्या उसकी गंध भी हाथ में आ सकती है?

तात्पर्य यह है कि दीपक का प्रकाश पुद्गल-रूपी होने पर भी जब अन्य पदार्थों का प्रतिघात नहीं करता तो ज्ञानशक्ति रूप से व्यापक ईश्वर तो बाधक हो ही कैसे सकता है? उसके बाधक होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सज्जनों! ईश्वर के श्रद्धालु तो बहुत हैं, किन्तु जब भुगतान का समय आता है तो लोग बगलें झाकने लगते हैं। जो लोग जैनों को नास्तिक कहते हैं, वे सामने आकर बात करें तो उन्हें

पता चले कि वे कितने गहरे पानी में हैं? जैन ईश्वर को मानते हैं, मगर उसे मदारी नहीं मानते, इन्द्रजालिक नहीं मानते। वे सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी मानते हैं। ज्ञानशक्ति से विभु व्यापक भी स्वीकार करते हैं।

ईश्वर मे से अगर पूर्वोक्त गुण निकल जाएँ तो वह ईश्वर ही न रहे। सूर्य में से अगर प्रकाश और तेज निकल जाय तो उसे सूर्य कौन कहेगा? सूर्य से हाने वाला काम भी कैसे हो सकता है? वह तो यों ही लटकता हुआ ठीकरा-सा दिखाई देगा। अतएव अगर ईश्वर है तो वह सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता के कारण है। जिसमें यह शक्तियाँ विद्यमान नहीं हैं, उसे कोई ईश्वर कहे तो उसकी मर्जी, न्याय से तो वह ईश्वर हो नहीं सकता। कोई अपने लड़के का नाम राजाराम रख ले तो वह राजा नहीं बन जाता। इसी प्रकार ईश्वरीय गुणों से शून्य को ठाकुर-ईश्वर-मान लेने से ही कोई ईश्वर नहीं बन सकता। ईश्वर बनने के लिए बड़ी साधना चाहिए, तपस्या चाहिए। ईश्वर में अनन्त ज्ञानशक्ति चाहिए। ईश्वर का ज्ञान कण-कण में व्याप्त होता है। कोई भी पदार्थ ईश्वरीय ज्ञान से बाहर नहीं होता।

प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर में समग्र विश्व किस प्रकार प्रतिभासित हो सकता है? ईश्वर के आत्मप्रदेश सीमित हैं और विश्व बहुत बड़ा है। अतएव एक ही साथ वह सब को कैसे जान सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ईश्वरत्व भाव अपनी सानी का एक ही है और उसकी बराबरी की उपमा देने योग्य कोई वस्तु नहीं है। ईश्वर की ज्ञानशक्ति अनन्त है और उसके द्वारा वे समग्र विश्व को जान रहे हैं। इस बात को समझने के लिए एक स्थूल-सी उपमा दी गई है। कल्पना कीजिए, एक काच का महल बनाया जाय और उसके चारों ओर काच ही काच लगाया जाय और वह काच भी सुन्दर

और स्वच्छ हो। तो काच तो महदूद है यानी जितनी जगह में वह है, उतनी ही जगह उसने रोकी है। उसके सामने के सब पदार्थों का प्रतिबिम्ब उस पर पड़ता है। यद्यपि काच उन पदार्थों के पास नहीं जाता है, फिर भी दूर से ही वह उनका प्रतिबिम्ब खींच लेता है।

काच में तो फिर भी अनन्त मैल भरा पड़ा है, किन्तु साफ दिखने के कारण उसे साफ मान लिया है, क्योंकि शोधने वालों ने उसे बहुत कुछ शोध लिया है, जिससे मैल होते हुए भी हमें साफ दीखता है। किन्तु परमात्मा की आत्मा तो इतनी विशुद्ध है कि उसमें रंचमात्र भी मलीनता नहीं है। अतएव वह अपने स्थान पर रह कर भी समस्त पदार्थों को जान लेती है। कैमरे में जितना 'पावर' होगा वह उतनी ही दूर की चीजों को प्रतिबिम्बित कर सकेगा। यद्यपि कैमरे का पावर सीमित है, फिर भी कोई-कोई कैमरा बीस बीस मील दूरी पर स्थित पदार्थों का भी चित्र ले लेता है। तो जब बनावटी और साकार शीशे में भी इतना पावर है तो फिर ईश्वरीय शक्ति के पावर का तो कहना ही क्या ?

तो अभिप्राय यह है कि पदार्थ जहाँ–जहाँ स्थित हैं, वहीं से ही वे ईश्वर के ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं ?

कैमरा साकार का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है और जो अधिक स्थूल होता है, उसका ही फोटो आता है। वह सूक्ष्म का फोटो नहीं ले सकता। किन्तु ईश्वरीय ज्ञान का कैमरा पूर्ण कैमरा है। उसमें सम्पूर्ण शक्ति (फुल-पावर) है और वह स्थूल-सूक्ष्म साकार-निराकार सब को अपने में प्रतिबिम्बित कर सकता है। वह अनूठा यंत्र है। संसार में उससे बढ़ कर या उसके समान कोई यंत्र नहीं है। तुम्हारे आत्मा में भी यह शक्ति है मगर बात इतनी ही है कि उसे

साफ करो, उसमें मलीनता मत रहने दो और उस पर पड़ा हुआ गर्द हटा दो ऐसा करने से आपकी आत्मा में भी वही पावर प्रकट हो जाएगी।

आप चाहते हैं कि सुन्दर फोटो खिंच जाय और खींचने वाला भी खींचना चाहता है, मगर जब तक तेरे मेरे का पर्दा पड़ा हुआ है, फोटो नहीं आ सकता। आप ओसवाल, अग्रवाल, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, दस और वीस नंबर का फोटो लेना चाहते हैं, मगर उस कैमरे के सामने इन नबरों का कोई मूल्य नहीं है। कैमरा तो उसके जो पदार्थ सामने होगा, उसी का फोटो ले लेगा।

ऐ मनुष्य ! अफसोस तो तेरे लिए है और तेरे लिए बड़ी शर्म की बात है। कैमरा जड़ हो कर भी निःसकोच भाव से सब को अपने हृदय में स्थान देता है,कोई भेदभाव नहीं रखता परन्तु ऐ मनुष्य ! चेतन नाम धराने वाले ! तू औरों को क्या अपनाएगा जब कि अपने सगे भाइयों को भी अपनाने के लिए तैयार नहीं है। तूने भगवान् महावीर के आदर्श को भुला दिया है। महावीर के नाम की मालाएँ फेरते-फेरते घिसा डालीं, मगर उन के पावनतम आदर्शों का किंचित भी अनुसरण नहीं किया।

हां तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी का वह स्वच्छ और लोकोत्तर कैमरा है कि उस में निखिल विश्व का एक साथ प्रतिबिम्ब पड़ता है। न वे किसी के पास जाते हैं और न पदार्थ ही उनके पास आते हैं। फिर भी उस अद्भुत कैमरे में एक ही साथ सब का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

तो हमारे भगवान् तो ऐसे हैं जो निकृष्ट से निकृष्ट और उत्तम से उत्तम सब को ही अपना लेते हैं, परन्तु उनके अनुयायी होने का दम भरने वाले हम ऐसे सपूत हैं कि अपने भाइयों को भी ठुकरा देते हैं, तिरस्कृत कर रहे हैं।

वह पिता का असली पुत्र नहीं कहलाता और उसे पुत्र मानने में लोगों को भी शंका होती है जोअपने पिता की आकृति, प्रकृति, गुण, स्वभाव, रूप-रंग आदि से न मिलता हो। जिस ने किसी के पुत्र को न देखा हो और वह अचानक सामने आ जाय तो लोग पूछने लगते हैं—क्या तुम अमुक सेठ के लड़के हो? और उनका अनुमान सही भी निकलता है, क्योंकि उसकी शकल-सूरत, चाल-ढाल, रूप-रंग आदि अपने पिता से मिलता-जुलता होता है।

भगवान् महावीर जगत् के पिता हैं। हम सब-साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका-उनके पुत्र हैं। सज्जनो! मैं भी तुम्हारे साथ हूँ। मगर तभी तक साथ दूँगा जब तक तुम पुत्र कहलाओगे। हाँ कुछ ऐसे भी सपूत हैं जो कहते हैं कि भगवान् तो चूक गये। जिन्हें सुबह का खाया हुआ भोजन शाम को भी याद न रहता हो, वे जब भगवान् की चूक निकालते हैं तो आश्चर्य का पार नहीं रहता। वे सपूत नहीं कपूत ही कहला सकते हैं। सपूत पुत्र तो पिता की शान को दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ाता है। उनकी शान में चार चांद लगाने का सफल प्रयत्न करता है, दिग-दिगंत में उनका सदेश फैलाता है और उन के बतलाए हुए मार्ग का ही अनुसरण-अनुगमन करता है।

तो मैं कह रहा था भगवान् तो चराचर जगत् को अपने ज्ञान में गर्भित कर लेते हैं और इसी लिए उन्हें 'सागरवरगंभीरा' अर्थात् समुद्र के समान गभीर कहा है।

सुधर्मा स्वामी भगवान् की उपमा बतलाते हुए कहते हैं—जैसे मेरु पर्वत के चारों तरफ ज्योतिषमंडल चक्कर काट रहा है, ऐसे ही हे भगवन्! ये साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध

संघ आपके आश्रित रह कर अपना जीवन चक्र चला रहा है।

जैसे मेरु पर्वत पर मणि-रत्न हैं और उनमें से प्रकाश निकलता है और उससे अन्य पदार्थ भी प्रकाशित होते हैं, परन्तु आपका ज्ञान लोकालोक को आलोकित करता है।

मेरु पर्वत तीनों लोकों में व्याप्त है किन्तु देशत व्याप्त है अर्थात् उसका कुछ भाग अधोलोक का स्पर्श करता है, कुछ हिस्सा मध्यलोक को और कुछ हिस्सा ऊर्ध्वलोक को स्पर्श करता है, और लोक का अधिकांश भाग उस से खाली पड़ा है। फिर भी भगवन्! मैं आपका मेरुपर्वत से मुकाबिला करता हूँ। इस प्रकार यह उपमा मेल तो नहीं खाती, मगर क्या किया जाय? इस से बढ़िया कोई चीज मुझे मिलती ही नहीं जिसके साथ आपकी तुलना की जा सके। बच्चा पिता से सवारी करने के लिए घोड़ा माँगता है। पिता उपेक्षा कर देता है तो वह भावनावश एक लकड़ी को ही अपनी दोनों टांगों के बीच में डाल कर उसे घोड़े की कल्पना कर लेता है। बालक कल्पना करके ही अपनी भावना को मूर्त्त रूप दे कर सतोष कर लेता है। इसी प्रकार भगवन्! आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं और मेरु पर्वत एकेन्द्रिय जीव है, तथापि बाल कल्पना के अनुसार मैं आपको यह उपमा दे रहा हूँ।

तो भगवान् लोकालोक में व्यापक हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् सर्वव्यापक हैं और उनकी सर्वव्यापकता को सनातनी, इस्लाम, ईसाई, जैन आदि सब स्वीकार करते हैं। परन्तु ध्यान रखने की बात यही है कि भगवान् को शरीर से सर्वव्यापक नहीं मानना चाहिए, वे अपनी ज्ञानशक्ति से ही सर्वव्यापक हैं।

तो भगवान् के गुण गाने वालो से शास्त्रकार कहते है ऐ गुणों का गान करने वालो! दिल भर कर खूब गुणों का गान करो इससे तुम्हारी आत्मा मे गुणों का प्रकाश बढ़ेगा, किन्तु भगवान्

के स्वरूप को, उनके वास्तविक गुणों को पहले समझ लो और सही रूप में समझ लो। भगवान् के गुणों को समझ कर जो भगवद्गुण गान करते हैं, वे भगवान् ही बन जाते हैं। भगवद्गुणगान करके अनन्त आत्माएँ भगवान् बन गई हैं।

मगर भगवान् का गुणगान करना और महावीर का नाम लेना कोई बच्चों का खेल नहीं है। मणियों पर उंगलियाँ घुमाने मात्र से कुछ होना-जाना नहीं है। जब भगवतस्वरूप में तल्लीनता होती है, लवलीनता होती है और गुणगान में उत्कृष्ट रस आता है और भगवान् के गुण गाते-गाते आत्मा आत्मविस्मृत हो जाता है तो उसे अपने शरीर की सुध-बुध नहीं रहती। फिर कोई छेदे, भेदे या ऊपर से पटके। किन्तु उस तरफ लक्ष्य ही नहीं रहता। वह अपनी आत्मिक दुनिया में सैर करता हुआ होता है। जब कोई प्रेमी प्रेमिका की तलाश में होता है तो इतना विह्वल हो जाता है कि भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी वगैरह सब कुछ भूल जाता है और जब प्रेमिका मिल जाती है तो उसके अह्लाद का पार नहीं रहता। भगवान् से मुलाकात करने के लिए भी ऐसा ही बनना पड़ेगा। यों ही हाथ में लम्बी-लम्बी मालाएं लेकर और महावीर-महावीर की रट लगा कर मणियाँ घिसने से भगवान् नहीं बन सकते।

याद रखना, कुए से पानी निकालने के लिए और खेत में पानी पहुँचाने के लिए माल बनाई जाती है जिसमें घड़ियाँ-टींडें लगी रहती हैं और उस माल को दो बैल या रेगिस्थान के प्रेसीडेंट (ऊँट) चलाते हैं। वह माल बड़े मतलब की है। वह भी रंग लाती है। खेत को सर सब्ज करती है और पाक उत्पन्न करती है, मगर यह सब काम वह तभी कर सकती है जब कि पानी में डूबती है। घड़ियाँ जब पानी में डूब जाती हैं तभी उनमें पानी आता है। अगर

पानी के ऊपर ही ऊपर रहे तो वह धान्य को उत्पन्न नहीं कर सकती। ऊपर-ऊपर घूमने मे माल घिस कर टूट जाएगी, पर पानी नहीं आएगा।

इसी प्रकार आत्मा की खेती सूख रही है। माला भी जोरों से फिर रही है, किन्तु ऊपर ही ऊपर फिरने से कुछ लाभ नहीं होगा। कहा है :—

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनुवां तो चहुँ दिशि फिरे, यह तो सुमरन नाहिं॥

माला हाथ में और जीभ मुख में घूम रही है, मगर मन तो चारों दिशाओं में चक्कर काट रहा है और हिरन की तरह चौकड़ी भर रहा है तो वह सच्चा स्मरण नहीं है। यह तो उन घड़ियों के पानी के ऊपर-ऊपर फिरने के समान है। अगर घड़ियाँ पानी में पहुँची होतीं तो खेती सरसब्ज हो जाती, शान्ति मिलती और राग-द्वेष का सन्ताप शान्त हो गया होता। आज आपके हृदय में जो सन्ताप है, शान्ति प्राप्त नही हो रही है, यह सब उस पानी में न डूबने का ही परिणाम है। जब जमीन संतप्त है, शुष्क है तो उसमें बीज डालने से कुछ भी सार्थकता नहीं होगी।

आप बीज बोने में कसर नहीं रखते। गोदाम के गोदाम बीज के जमीन में उंडेल दिये,मगर जिस रूप में खेती पकनी चाहिए, थी नहीं पक सकी। आज सम्प्रदायवाद, जातिवाद, सत्ता का अभिमान आदि-आदि दुर्गुण ज़मीन को संतप्त कर रहे हैं, अतएव वह खेती फलने-फूलने नहीं पाती।

जिस मनुष्य में कषायों का जोर होता है, उसे अपनी बुरी से बुरी वस्तु भी प्रिय लगती है और दूसरे की अच्छी से अच्छी

वस्तु भी बुरी लगती है। यह राग द्वेष का परिणाम है।

एक राजा ने अपने हब्शी नौकर को हुक्म दिया कि तुम सूर्यास्त से पहले-पहले नगर में से उत्तम से उत्तम खूबसूरत लड़के को ढूंढ कर लाओ, अन्यथा तुम्हें जेलखाने में बंद कर दिया जायगा।

नौकर ने कहा—जो हुकुम सरकार का !

नौकर राजदरबार से रवाना होकर एक-एक सेठ, साहूकार राज्याधिकारी आदि के घरों में जा-जाकर सुन्दर से सुन्दर लड़के की तलाश में घूमा। उसने सब अच्छे-अच्छे लड़कों को देख लिया, किन्तु उसकी निगाह किसी पर नहीं जमी। सब उसे सूगले बदसूरत ही नज़र आये। शाम होने को आई। तब उसे चिन्ता हुई- गज़ब हो गया ! अब तक मुझे कोई सुन्दर लड़का नहीं मिला। मगर क्या करूं ? राजा से साफ-साफ कह दूंगा कि मुझे कोई लड़का खूबसूरत नहीं मिला।

यही निश्चय करके वह लौटने लगा तो रास्ते मे उसका घर पड़ा। सोचा-पानी पीकर ही चलूं। वह घर मे आया और पानी पीकर जाने लगा तो इतने ही में उसका लड़का सामने आ गया। उस लड़के के हाथ पैर सूखे हुए थे और पेट तूमड़े की तरह आगे निकला हुआ था। लार टपक रही थी और कपड़ धूलिधूसरित हो रहे थे। रंग काला और ढग बेडौल था किन्तु जब लड़के ने कहा-बापू बापू ! आ गये ? बस, हब्शी का मोह जागृत हो गया। तब उसने सोचा मैं ने व्यर्थ इतना कष्ट उठाया ! सुन्दर लड़के की तलाश में वृथा दिन भर भटकता फिरा। मेरे लड़के से बढ़ कर और कौन सुन्दर हो सकता है ?

इस प्रकार सोच कर उसने अपने लड़के को गोद में उठाया और राजा के पास चल दिया। राजा उस लड़के को देख कर हैरत

मे आ गया। उसने प्रश्न किया-क्या मेरी आज्ञा का पालन किया?

नौकर—हाँ हुजूर, सुन्दर से सुन्दर लड़के को ले आया हूँ। यह रहा।

राजा चक्कर में पड़ गया। सोचने लगा-ईश्वर ने जब सृष्टि बनाई होगी तो कुछ रद्दी मसाला बच रहा होगा। उसी से इस बालक का निर्माण किया होगा।

प्रकट में कहा—अबे, तू क्या कह रहा है?

नौकर—दीनदयाल, मुझे तो आखिर में यही सब से ज्यादा खूबसूरत दिखाई दिया और इसी को साथ ले आया हूँ।

राजा ने विस्मय के साथ पूछा-यह किसका लड़का है? नौकर-हुजूर, यह मेरा ही है।

अब राजा सारे रहस्य को समझ गया। उसने सोचा-अनुराग ही इस चुनाव का कारण है। इसे अपने लड़के पर राग है, अतएव यही इसे सब से सुन्दर दीखता है। ठीक ही है—'राजा ने मानी सो रानी, अंधी हो या कानी।'

सज्जनो! संसार के प्राणियों की यही स्थिति है। जो मैं ने कह दिया और मान लिया सो ठीक है, फिर भले ही वह अन्यायपूर्ण ही क्यों न हो। बस, अपना जाना हुआ और माना हुआ अच्छा लगता है और दूसरों की अच्छी बात भी पसंद नहीं आती।

जब अच्छे को बुरा समझता है तो समझो कि द्वेष है और बुरे को अच्छा मानता है तो समझ लीजिए कि राग काम कर रहा है। राग और द्वेष, दोनों ही पाप हैं, जिनके कारण जीव ससार में परिभ्रमण करता है।

राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने वाले वीतराग हैं। उन्हे भगवान् या जीवन्मुक्त ईश्वर कहते हैं। ऐसे ही हैं भगवान् महावीर

स्वामी। उनकी यह दृष्टि नहीं थी कि मेरे भक्त तो चोखे-अच्छे हैं और दूसरे ठीक नहीं हैं। वे वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप में देखते थे और उसी रूप में निरूपण करते थे।

इस प्रकार की समभावमयी दशा प्रकट होने पर ही आत्मा का कल्याण होता है।

श्रीसुधर्मा स्वामी ने भगवान् को मेरुपर्वत की उपमा देकर जो स्तुति की है, वह भगवान् की महत्ता की सूचक है। अनेक जिह्वाएँ बना कर भी हम भगवान् के सम्पूर्ण गुणों का गान नहीं कर सकते। हमें जो जिह्वा मिली है, वह भगवान् की स्तुति से ही सार्थक हो सकती है। जो शुद्ध हृदय से तन्मय होकर भगवद् गुणगान करता है, वह संसार-सागर से पार हो जाता है।

ब्यावर,
१–११–५६

बन्धनमूल-मिथ्यात्व

उपस्थित महानुभावो !

परमहितैषी सर्वज्ञदेव भगवान् तीर्थंकर ससारी जीवों को संबोधन करते हुए कहते हैं—ऐ आत्माओ ! यदि तुम अपने जीवन को उत्तम बनाना चाहते हो और अपनी छिपी हुई अलौकिक निधि को प्रकट करना चाहते हो, अपने ही माल से अपने आप को मालामाल करना चाहते हो तो तुम्हें इस ढंग से, इस क्रम से या इस पद्धति से काम करना होगा।

महापुरुषों ने आत्मविकास का बड़ा सुन्दर कार्यक्रम बतलाया है। किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए जब तक कोई उत्तम पद्धति नहीं अपनाई जाती, तब तक वह सुन्दर रूप से नहीं होता। उस में यथेष्ट सफलता नहीं मिलती।

आप जब कोई नवीन कार्य करना चाहते है तो उस के लिए पहले स्कीम-योजना-प्रणाली निश्चित कर लेते हैं। छोटी-छोटी सस्थाएँ हों, या बड़ी बड़ी राजकीय सस्थाएँ हों उनके सामने जो कार्य होता है, उसको पूरा करने के लिए पहले कार्य-क्रम निर्धारित कर लिया जाता है और फिर उसे प्रारंभ किया जाता है। तभी उसमें अभीष्ट सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार जब सासारिक कार्यों के लिए भी पहले नीति निर्धारित

करनी पड़ती है और उसके अभाव में कार्य करने से सफलता प्राप्त नहीं होती तो आध्यात्मिक कार्य में नीति निर्धारित किये बिना कैसे सफलता मिल सकती है ?

हमारे लिए महापुरुषों ने मार्ग निर्धारित कर दिया है और हमें तो केवल उस मार्ग पर चल देना है। श्रीसूयगडांग सूत्र मे, प्रथम श्रुतस्कंध में यही पद्धति बतलाई है।

जिसे हिन्दी मे सूप कहते हैं, पंजाबी में छज्ज और यहाँ तुम्हारे उसे छाजला कहते है, उसका काम कूड़े-कचरे को पृथक्-कर देना है। सूप कूड़े-कचरे को एक तरफ कर देता है और अनाज को एक तरफ कर देता है। इसी प्रकार सूयगडांग सूत्र मे भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूपी अनाज और कचरे का पृथक्करण किया गया है। समकित शुद्ध तत्त्व है, चावल, गेहूं आदि के समान है, मगर उसमें मिथ्यात्व रूप कूड़ा कचरा मिला हुआ है। हमारा कर्त्तव्य यह है कि मिथ्यात्व रूपी कूड़ कचरे का हटा कर विवेक रूप सूप से सम्यक्त्व को शुद्ध बना लें।

-सूयगडांगसूत्र मे बतलाया गया है कि किस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का पृथक्करण किया जा सकता है ?

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्या हैं? आत्मा में कैसे मिले हुए हैं और उनका पृथक् करण किस प्रकार किया जा सकता है, यह जानने के लिए सूयगडागसूत्र बहुत उपयोगी है। सूयगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध मे आत्मविकास का मार्ग बतलाया है और प्रेरणा की गई है—बुज्झह! सोचो, समझो! पंजाबी मे कहते हैं—'तुसी बुज्झो साडी मुट्ठी विच की है ?' अर्थात् तुम समझो, हमारी मुट्ठी मे क्या है ? संस्कृत भाषा के 'बुद्ध' शब्द का प्राकृत भाषा में 'बुज्झ' रूप हो जाता है।

तो शास्त्रकार कहते है—पहले समझो, जानकारी करो। जो कुछ तुमको कहना है, आचरण करना है या पथप्रदर्शन करना है, उसे पहले तुम स्वयं समझो।

पहले जानना होगा कि अनादि काल से इस आत्मा को कर्मों ने बॉध रक्खा है। जकड़ रक्खा है, आत्मा की स्वतत्रता को क्षत विक्षत कर दिया है, जिससे आत्मा ठीक मार्ग पर नहीं जा पाती है। तो यह समझना आवश्यक है कि जीव क्या है और वन्धन क्या है? किस प्रकार वधन ने आत्मा को बॉधा है?

वह वधन भी एक प्रकार का नहीं, आठ प्रकार का है। उसकी उत्तर प्रकृतियॉ १४८ हैं। यह सख्या भी स्थूल रूप में है। इनके भी सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भेद है और वे अनन्त है। कर्मवर्गणाएँ अनन्तानन्त हैं। इतने वधनों से मुक्त होना कोई बच्चों का खेल नहीं है। अतएव सुन्दर योजना, पद्धति और कार्यक्रम की आवश्यकता है। अन्यथा वन्धन छूटने वाले नहीं है। अतएव शास्त्रकार सचेत करते हैं कि पहले बूझ लो, समझ लो और फिर आचरण करो।

किसी वैद्य को इलाज करना होता है तो पहले वह रोग को समझता है रोग को सही रूप से समझ लेने पर वह रोगी को रोग से मुक्त कर सकता है। अगर रोग को समझे विना अन्धाधुन्ध दवा दे दी जाय तो अच्छे की जगह बुरा परिणाम भी निकल सकता है। इसी प्रकार आत्मा के कर्मरोग को भी पहले समझ लेने की आवश्यकता है।

हा तो कर्मवध चार प्रकार का है प्रकृतिवध, स्थितिवंध, प्रदेशवंध और अनुभागवध। अव प्रश्न यह है कि इन वधनों को तोड़ने का उपाय क्या है? और जव वन्धनों को तथा उन्हे तोड़ने के उपाय को समझ लिया तो फिर बेड़ा पार है। इसे समीचीन रूप से समझे

बिना कुछ होना नहीं है।

हमारे उन लोकोत्तर वैद्यों ने अपने दिव्य चक्षुओं से भवरोग का मूल कारण खोज निकाला है और वह मिथ्यात्व है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ अठारहों पाप फलते-फूलते हैं और मनमाना ऊधम मचाते हैं। शास्त्रकारों ने इसलिए मिथ्यात्व को मनुष्य की प्रथम भूमिका कहा है। इसकी चिरकालीन स्थिति है। अगर किसी भूमिका की महान् स्थिति है तो वह मिथ्यात्व की है। मिथ्यात्व से पार हो जाने पर जीव को आगे विकास करने में अधिक विलम्ब नहीं लगता। किन्तु मिथ्यात्व का छूटना ही मुश्किल है। अनेक जीव ऐसे हैं कि उन्हें इसी गुणस्थान में रहते अनन्त काल व्यतीत हो चुका है। उन्हें अब तक इससे छुटकारा ही नहीं मिला है।

तो यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के साथ रमण कर रहा है और उसी को अपना मित्र माने बैठा है। इसी कारण वह नाना प्रकार की विडम्बनाओं का क्रीडास्थल बना हुआ है।

मिथ्यात्व त्रिमुखी स्थिति वाला होकर जीव के साथ लगा है (१) अनादि अनन्त (२) अनादि सान्त और (३) सादि सान्त। कई जीव ऐसे हैं जिनके साथ अनादि-अनन्त मिथ्यात्व का संबन्ध है। उनके मिथ्यात्व की न आदि है, न अन्त है। न उन्होंने कभी मिथ्यात्व से छुटकारा पाया है, न पाएँगे। जिनके मिथ्यात्व का एक वार भी अन्त हो गया है, उनको मोक्ष अवश्य होगा। उन्हें मोक्ष का प्रमाणपत्र मिल गया है। वे अर्धपुद्गलपरावर्त्तन काल में मोक्ष अवश्य पाएँगे।

ओ समकितदेवी! तेरी कितनी उदारता है! तू कितनी मंगल-मयी और कल्याणमयी है कि एक वार थोड़ी-सी देर के लिए भी आत्मा को तेरा सम्पर्क हो जाय, अल्प काल के लिए भी तेरी झलक

दिखाई दे जाय तो जीव का निस्तार हो जाता है।

सज्जनो! आपके हृदय में सम्यक्त्व की कितनी कदर होनी चाहिए? मगर उसे प्राप्त करने की ओर आपका लक्ष्य ही नहीं है। आज तुम्हें पता है कि तुम्हारे बच्चे-परिवार वाले कहाँ जा रहे हैं? तुम्हें तो कीड़ों-मकोड़ों की तरह जन्म देना आता है। मगर जन्म देने के बाद उनका ध्यान भी रखना चाहिए। कि वे कैसी संगति में रहते है? स्कूल जाते हैं तो वहाँ उन्हें अपनी संस्कृति के अनुकूल शिक्षण मिलता है या प्रतिकूल? कभी अपने बच्चों से इस सबन्ध मे पूछताछ की है? तुम तो कानों में तेल डाले बैठे हो। तुम्हें लूटने-खसोटने की विद्या सीख जाने से मतलब है। पक्षी भी अपने बच्चों का खयाल रखता है, दूसरा पक्षी यदि घौंसले में आ जाता है तो वह टें-टें मचाने लगता है और चोंचें मार कर उसे भगा देता है। किन्तु अफसोस है कि तुम मनुष्य होकर भी अपने बच्चों की सस्कृति का खयाल नहीं रखते। आज बच्चों को यहाँ तक भय हो रहा है कि अगर अपने धर्म के विरुद्ध कही हुई अपने अध्यापक की बात नहीं मानेंगे तो फेल (अनुत्तीर्ण) हो जाएँगे। यही नहीं, अध्यापक की ओर से उन्हें ऐसी धमकी भी दी जाती है। लड़के यह बात मुझे कहते है, परन्तु तुम्हारे कानो में तो तेल पड़ा है!

हम स्कूल में अपने बच्चों को केवल सासारिक विद्याएँ सिखाने भेजते हैं। धर्म का शिक्षण तो उनका हमारी मान्यता के अनुसार ही होना चाहिए।

तो बच्चो को जन्म देने मात्र से काम नहीं चलेगा। तुम उनके खान-पान आदी की चिन्ता करते हो, जो कि नाशवान जीवन से संबन्ध रखती है, मगर उन के आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए क्या करते हो। यह आध्यात्मिक जीवन

चिरस्थायी है, परलोक में भी साथ जाने वाला है, आग में जलने और पानी से गलने वाला नहीं।

अब आप लोगों ने मेरे प्रवचनों से प्रभावित हो कर अपने बच्चों की धार्मिक शिक्षा के लिए रात्रिपाठशाला स्थापित की है, उससे उन्हें अपनी थोड़ी-सी संस्कृति मिली है, उनमें धार्मिक साहस आने लगा है और प्रतिवादी को उसके प्रश्नों के उत्तर भी वे देने लगे है। खैर इतनी माथापच्ची करने पर भी तुम्हारे दिमाग में सद्बुद्धि पैदा हो गई, यह सन्तोष की बात है, परन्तु इस सद्बुद्धि को कायम रखना। आरम्भशूरता मत दिखलाना। यह फकीर तो यहाँ से जाने वाला है, क्योंकि यह घुमक्कड़ है, पर इसकी बातों को स्मरण रक्खोगे तो तुम्हारा ही भला होगा। अगर बच्चों की ओर ध्यान न दिया तो वे कभी साधुओं का मुख भी नहीं देखेंगे और उनकी ओर झांकेंगे भी नहीं। धर्म से विमुख हो जाएँगे अतएव प्रारंभ में ही शुद्ध संस्कृति के बीज बालकों के हृदय में बोने चाहिए। तुम्हें इस विषय में सदैव जागरूक रहना चाहिए।

लौकिक शिक्षा के लिए तो अनेक संस्थाएँ खुली हुई हैं किन्तु प्रश्न तो धार्मिक शिक्षा का है। उसे आप हल करें।

जब हमारा मूल ही चला जाय तो लौकिक विद्या से क्या मतलब है? अतएव अपने बच्चों को सँभालना और उनका धर्म-मय जीवन बनाना अत्यावश्यक है।

तो मैं कह रहा था कि हम आज भौतिक जीवन के पुजारी बने हुए हैं और उससे आध्यात्मिक—सूक्ष्म जीवन के प्रति उपेक्षा धारण किये हुए हैं। आध्यात्मिक जीवन, त्यागमय जीवन और धार्मिक जीवन से दूर होते जा रहे हैं। किन्तु धार्मिक जीवन के बिना हम जीवित रहते हुए भी मृतक के समान हैं और धर्ममय

जीवन से मर कर भी जीवित हैं।

जिस मनुष्य का जुआ खेलने से, चोरी करने ने, मदिरापान करने से, वेश्यागमन करने से, रिश्वत लेने से, मासाहार करने से और विश्वासघात करने से अपयश हो रहा है, बदनामी हो रही है, दुनिया में बदनामी की डौंडी पिट रही है, वह भले ही जीवित कहलाता हो, किन्तु उसके सूक्ष्म प्राण निकल चुके हैं! उसका जीवन जीवन नहीं है। असल में यश जीवन है और अपयश मरण है।

तो आप भौतिक जीवन की सुरक्षा के लिए बहुत प्रयत्न-शील रहते हैं। भूखा-प्यासा न रहना पड़े रोग न हो जाय, चोट न लग जाय, इत्यादो बातों के लिए सतर्क रहते हैं, पर आध्यात्मिक जीवन पर भले ही एटम-बम पड़ जाय, वह टूक टूक हो जाय, उसकी कोई चिन्ता नहीं करते! यह वृत्ति अत्यन्त शोचनीय है। यह मिथ्यात्व का प्रताप है।

तो मैं कहने जा रहा हूँ कि कर्मबंधन का यदि कोई मूल स्रोत है, मूलाधार है तो वह मिथ्यात्व है। कई जीव अनादि-अनन्त मिथ्यात्व से ग्रसित हैं। उन्हें स्थूल जीवन के तो पुण्योदय से दर्शन होते रहेंगे। किन्तु सूक्ष्म जीवन के—आत्मा के दर्शन नहीं होंगे। जिस आत्मा रूपी आइने पर मैल चढ़ा है, उसे स्वरूपदर्शन से वंचित ही रहना पड़ेगा। मैले शीशे में स्थूल दर्शन भी नहीं होते तो फिर सूक्ष्म-आत्मा के दर्शन होने की तो संभावना ही क्या है?

मिथ्यात्व जीव का पीछा नहीं छोड़ रहा है। जैसे खुफिया पुलिस अपराधी के पीछे लगी रहती है और जहाँ भी अपराधी जाता है, छाया की तरह उसका अनुसरण करती है और उसके प्रत्येक कार्य का पता रखती है, और जब अपराध के पूरे-पूरे सबूत मिल जाते हैं तो उसे गिरफ्तार कर लेती है, इसी प्रकार मिथ्यात्व

रूपी सी-आई-डी. इस जीव के साथ इस ढंग से पीछे लगा है कि बहुत से जीवों को तो उसका पता ही नहीं है। यह कार्मण सुक्ष्म शरीर भी सी-आई-डी. के रूप में ही है और यह भी जीव के साथ अनादिकाल से लगा है। यह जीव का पीछा नहीं छोड़ता है और जीव की प्रत्येक हरकत को अपनी डायरी में नोट करता रहता है। अरे सी-आई-डी. मरने के बाद तो साथ में नहीं जाता है, किन्तु यह कार्मण शरीर रूपी सी-आई-डी. मरने के बाद भी पिण्ड नहीं छोड़ता ! वहाँ भी साथ लगा रहता है।

तो ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि हमारे साथ जो कार्मण शरीर लगा है, वह हमारी प्रत्येक शुभाशुभ मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया की नोंध रखता है। वह गुप्त चित्र खींच लेता है और किसी को पता नहीं लगने देता।

एक वार मैं पटियाला रियासत में था वो एक लड़का मेरे पीछे लगा कि मुझे आपका फोटो लेना है। मैंने कहा मुझे जड़ पूजा कराने की आवश्यकता नहीं। यदि पूजा करनी है तो चेतन की करो एक दिन संसार-पक्ष की दो वहिनें भी दर्शनार्थ आई हुई थीं, जिन्होंने मुझे दीक्षा दिलवाई थी। वे धर्ममाताएँ पास वैठी थीं और एक भाई भी वैठा हुआ था। इतने में वह लड़का कव आया और कव फोटो ले गया, मुझे कुछ पता ही नहीं लगा। उसने कहा-मैंने आपका फोटो ले लिया है, तव भी मुझे उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। जव मुझे पता चला कि वास्तव में ही इसने फोटो ले लिया है तो मैंने उसके पिता को बुला कर कहा-वह फोटो यहाँ हाजिर करो, उसे रखने की मेरी आज्ञा नहीं है।

फोटो आ गया। मैंने देखा तो मेरे साथ उन दोनों माताओं का भी फोटो था और पास ही वैठे भाई का पूरा फोटो नहीं आया था क्योंकि वह कुछ ओट में था तो जो सिद्धान्त को नहीं छोड़ते

वे गलती से बच जाते हैं और जो सिद्धान्त का परित्याग कर देते हैं वे खता खाते हैं।

मैंने वह फोटो देखा और फाड़ कर फेंक दिया। उसे कोई अपरिचित देखता तो क्या कहता? उसे कैसे मालूम होता कि यह मेरी माताएँ या बहिने हैं? वे महान् पुण्यवती थीं। पर फोटो खिंच जाने पर यदि मैं खुश होता और सोचता कि लोग मेरी पूजा करेंगे तो ऐसा नाम रोशन होता कि याद आ जाती। तो जैसे फोटो लेने वाले गुप्त रीति से फोटो ले लेते हैं उसी प्रकार यह कार्मण-शरीर गुप्त रूप से हमारी प्रत्येक क्रिया का चित्र अंकित करता रहता है।

मुसलमान कहते हैं—दो फरिश्ते हैं जो इंसान के दोनों कंधों पर सवार रहते हैं। तो यह तैजस और कार्मण शरीर ही दो फरिश्ते समझ लीजिए जो जीव के साथ निरन्तर बने रहते हैं और क्षण भर के लिए भी पृथक् नहीं होते।

मिथ्यात्व का दूसरा रूप है अनादि सान्त। अनेक जीव ऐसे हैं कि वे अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि हैं उन्हें सत्य भगवान के आज तक दर्शन ही नहीं हुए परन्तु सद्‌गुरु का समागम होने पर और उनसे प्रतिबोध प्राप्त करने पर या कोई अन्य उपयुक्त निमित्त मिलने पर उनका मिथ्यात्व दूर हो जाएगा। इस प्रकार जिनके मिथ्यात्व की आदि नहीं पर अन्त है, उन्हें अनादिसान्त मिथ्यादृष्टि कहा गया है। ऐसी आत्माएँ कभी न कभी मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

मिथ्यात्व का तीसरा रूप है सादि सान्त। बहुत-से जीव ऐसे हैं जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। उनके मिथ्यात्व की आदि है और आदि है तो अन्त भी है।

ऐसे जीव भी मोक्षगामी होते हैं।

अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व इस जीव का बड़ा ही जबर्दस्त शत्रु है। यह प्रथम तो मरता ही नहीं और फिर कभी मर कर भी जिंदा हो जाता है और जीव की दुर्दशा करता है। इससे सदा के लिए पिण्ड छुड़ाना आसान नहीं है।

सज्जनो! मिथ्यात्व ही कर्मबन्ध का मूल कारण है। जो मिथ्यात्व का वमन-त्याग कर देता है उसके कर्मबन्धन भी हल्के हो जाते हैं। ऐसा जीव संसार सबधी कार्य करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। उसकी आत्मा में आसक्ति और तल्लीनता नहीं रहती। वह समझता है कि मुझे विवश हो कर यह सब करना पड़ रहा है। मगर मिथ्यात्वी पाप करके खुश होता है इस कारण वह प्रगाढ़ कर्मों का बन्ध कर लेता है। उन बन्धनों का टूटना बड़ा कठिन होता है।

मिथ्यात्वी की दृष्टि सदा दुर्गुणों पर ही जाती है, परन्तु सम्यक्त्वी सच और झूठ का निर्णय करता है और दोनों की छटनी करता है। वह जिसे बुरा समझता है, उसकी भी निन्दा-चुगली नहीं करता। वह समझता है कि अब तक तो वही बुरा है और मेरी बुराई कर रहा है अगर मैं भी उसकी बुराई करूँगा तो उसमें और मुझमें क्या अन्तर होगा ? दूसरों की गंदगी अपनी जीभ पर लाना उचित नहीं है। यह बुद्धिमानों का काम नहीं है, मूर्खों का स्वभाव है। भंगी में भी इतनी बुद्धी तो होती ही है कि वह कूड़ा-कचरा लेकर अलग जंगल में फेंकता है। अफसोस है ऊंची जाति वालों जो अपने को ऊँचा मानते हैं, फिर भी गंदगी को अपने घर में डालते हैं।

निन्दक दूसरे की गंदगी को अपने घर में डालता है। भंगी

तो झाड़ू या ठीकरी से गंदगी उठाता है, हाथ नहीं भरता है, मगर निन्दक गंदगी को अपनी जीभ से चाटता है। तो अब आप ही सोचिए कि बड़ा भंगी कौन रहा ? निन्दक ही तो रहा न ?

भारतीय संविधान को मानने के बावजूद क्या तुम भंगी के हाथ की रोटी खाने को तैयार हो ? पानी पी लोगे ? नहीं। तब बड़ा भंगी, जो निन्दक है, उसके साथ उठते-बैठते हो खाते पीते हो या नहीं ? तुम निन्दकों की सगति करते हो और उन्हें प्रोत्साहन देते हो और उनके साथ खाते पीते हो तो तुम किस श्रेणी में गिनने योग्य हो ? इस प्रश्न का निर्णय आपको ही करना है।

भगी खतरनाक नहीं है, बल्कि उपयोगी है। समाज का बड़ा सेवक है। भगी न हो तो सेठजी को भगी बनना पड़े। असल मे खतरनाक वे हैं जो निन्दा करते हैं, चुगली करते हैं और अपने सघ, जाति. समाज और राष्ट्र को खराब करते हैं। ऐसे अधर्मियों से बच कर रहना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि की विचारधारा ऐसी होती है कि वह बुरे को बुरा और अच्छे को अच्छा समझ लेता है और जैसा समझता है, वैसा ही समझा भी देता है। अगर सुनने वाला न माने तो वह अपने वचनों पर नियंत्रण रखता है। किसी की बुराई नहीं करता फिरता।

चतुर्भुज नामक एक राजा था। सम्यग्दृष्टि, बुद्धिमान् और सुलझे दिमाग का आदमी को परखना वह जानता था। उसका चुतुर्भुज नाम एक प्रकार से सार्थक था। दो भुजाऐं तो सभी को होती हैं, पर उसके दो भुजाएँ ज्यादा थीं-एक भुजा विवेक की और दूसरी सदाचार की।

जिसमें विवेक और सदाचार की भुजाएँ नहीं, उसकी हड्डी

चमड़ी की भुजाएँ किस अर्थ की ? वह तो उलटी अनर्थ का कारण बनती हैं।

राजा चतुर्भुज सब की बात समझ लेता था, किन्तु निन्दा-चुगली किसी की नहीं करता था। वह अपने आपमें सदैव सावधान रहता था। सब की परीक्षा करता था और सब का यथोचित मान करता था चतुर्भुज राजा के पड़ौसी किसी दूसरे राजा ने उसकी प्रशसा सुनी तो कहा-अच्छे-बुरे नहीं देखना और सब का सन्मान करना यह भी कोई अच्छ ाई है ?

विरोध करने वाले राजा के दरबार में एक पंडित था। जब उसने राजा को यह कहते सुना तो वह बोला-हुजूर, आप क्या कह रहे हैं ? आदमी की परख कर लेना पर किसी की निन्दा न करना तो बड़ा गुण है।

राजा ने अपने पण्डित के मुख से भी जब चतुर्भुज राजा की प्रशंसा सुनी तो उसने परीक्षा करने की ठानी। एक भाट को उसने साधु के वेष में राजा चतुर्भुज के पास भेजा। भाट ने चतुर्भुज राजा के पास पहुँच कर अपना साधुत्व सिद्ध करने की बड़ी कोशिश की। परन्तु—

सचाई छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से।
खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज़ के फूलों से।

सज्जनो ! नकली नकली है और असली असली है। यद्यपि वह नकली साधु आडम्बर करके अपने को चौथे आरे सतयुग की बानगी सिद्ध कर रहा था और नववधू की भाँति नीचे देख कर चलता था, फिर भी राजा ताड़ गया कि यह कपटी है और इसका व्यवहार दिखावटी है। उसने पूछा-महाराज, कहाँ से आ रहे हो ?

भाट ने अमुक नगर का नाम बतला कर कहा-वहाँ के राजा ने आपकी बड़ी तारीफ की और मुझसे कहा-आप तो रमते राम हैं चतुर्भुज राजा को भी दर्शन दे आइए।

राजा--महाराज, मैंने आपके दर्शन कर लिए।

भाट— तो मैं चला।

राजा—आप कहाँ जाएँगे ?

भाट—जहाँ से आया हूँ।

तब राजा ने एक अंगूठी और कानी कौड़ी डिबिया में रख कर भाट को दी और कहा-आप यह मेरी ओर से वहाँ के राजा को भेंट कर दीजिएगा।

साधुवेषी भाट लौट कर आया तो अपने राजा से कहा-अजी हुजूर, वह तो बुद्धू है। उसने मेरा खूब सन्मान किया, भोजन दिया और आते समय आपके लिए यह भेंट दी है।

राजा ने डिबिया खोली तो उसमें से अंगूठी और कानी कौड़ी निकली। राजा उसका मतलब न समझ सका।

इतने में पण्डितजी आ पहुँचे। भाट को देख कर बोले-साधु महाराज, पधार गये क्या ?

भाट—जी हाँ।

राजा—पण्डितजी, आप तो कहते थे कि राजा चतुर्भुज बड़ा पारखी है! वह तो बछिया का ताऊ निकला। उसने इसको साधु समझ कर सम्मानित किया और मेरे लिए डिबिया में यह भेंट भेजी है।

पण्डितजी ने अंगूठी और कानी कौड़ी देखने के पश्चात् इसका मतलब समझ गया और राजा से कहा—चतुर्भुज राजा ने इस की सही परख कर ली है और उत्तर भी भेज दिया है। वह राजा,जैसा मैंने कहा था, वैसा ही पारखी है। उसने यह दोनों वस्तुएँ भेज कर आपको सूचित

कर दिया है कि यह साधु ऊपर से तो सोने की अंगूठी जैसा है, पर भीतर से-आचरण से-फूटी कौड़ी सरीखा है, वास्तविक साधु नहीं है।

राजा अब समझ गया कि चतुर्भुज राजा वास्तव में बड़ा गुणी परीक्षक और सम्यग्दृष्टि है। वह किसी की निन्दा नहीं करता, मगर अच्छाई-बुराई को समझता अवश्य है। वह 'गुणिषु प्रमोदम्' अर्थात् गुणी जनों को देख कर प्रसन्न होता है।

तो सुलझी हुई आत्माएँ आदमी को समझ लेती हैं, पर किसी की बुराई नहीं करतीं। सम्यग्दृष्टि सदैव दूसरे के गुणों को ग्रहण करता है। वह जानता है कि कर्मबन्धन का मूल स्रोत मिथ्यात्व है।

जो मिथ्यात्व त्याग कर कर्मबन्धन को काटते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
१५-११-५६

पढमं नाणं

उपस्थित सज्जनो !

जिन आत्माओं को विवेक प्राप्त हो गया है, उनके समग्र प्रयास बन्धनों को दूर कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही होते हैं। पर मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीन बातों को समझ लेने और उन्हें व्यवहार में उतारने की आवश्यकता है। तत्त्वज्ञानी महापुरुषों का कथन है कि सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त करना चाहिए भगवान् महावीर ने साधक के लिए साधना का प्रथम सोपान ज्ञान ही बतलाया है। कहा है-ऐ साधक ! यदि तू अपने साधनापथ पर अग्रसर होना चाहता है और सर्वोपरि साध्य को उपलब्ध करना चाहता है तो सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त कर। 'पढमं नाणं।'

सर्वप्रथम ज्ञान का आलोक प्राप्त करना चाहिए। साधक को आगे चल कर जो कुछ करना है, उसका मूलाधार ज्ञान है। जब तक ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक कठोर से कठोर तपस्या करने से पुण्योपार्जन तो हो सकता है, मगर मोक्ष नहीं हो सकता; फलतः जीव भटकता ही रहता है। वास्तव मे मोक्षदाता सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य यह भी नहीं समझ सकता कि मोक्ष क्या है? मोक्ष का स्वरूप समझे बिना कोई मोक्ष प्राप्त कैसे कर सकता है?

जिस विद्यार्थी को यह पता है कि उच्च कोटि का अध्ययन करने के

पश्चात ही ऊँचा पद प्राप्त हो सकता है, वह अध्ययन में मन लगाता है और ऊँची उपाधि प्राप्त करके ऊँचा पद पाता है। जिसे इस बात का पता ही नहीं है, वह क्या अध्ययन करेगा ? वह विद्याप्राप्ति की ओर ध्यान ही नहीं देगा। इसी प्रकार मुक्ति का स्वरुप समझ लेने पर ही उसके लिए प्रयत्न किया जा सकता है। और मुक्ति का स्वरुप समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है।

मोक्ष कोई काली, पीली, नीली चिड़िया का नाम नहीं है। कर्मों के विलग हो जाने पर आत्मा की विशुद्ध दशा का आविर्भाव हो जाना ही मोक्ष है। अतएव मोक्ष को समझने के लिए कर्मों को भी समझना पड़ता है और कर्मों को समझने के लिए कर्मबन्ध और उसके कारणों को तथा कर्मनिरोध और कर्मक्षय के उपायों को भी समझना पड़ता है। इस प्रकार नौ ही तत्त्वों का ज्ञान मोक्ष के ज्ञान में समाविष्ट हो जाता है। पर यह ध्यान रहे कि मोक्ष के लिए वही ज्ञान सहायक हो सकता है जो सम्यग्ज्ञान हो, जिस में शंका विपर्यास और विभ्रम को कोई स्थान न हो। विपरीत ज्ञान विपरीत प्रवृत्ति का जनक होता है और सदुद्देश्य का विघात करता है। संसार को नष्ट करने वाले शस्त्र-शस्त्रों का ही उस ज्ञान से निर्माण होता है। उस ज्ञान के मूल में संसार का कल्याण करने की भावना नहीं होती। संसार कल्याण की भावना तो सम्यग्ज्ञानी में ही होती है।

आज विश्व में बड़े २ वैज्ञानिक हैं और वे विस्मयकारक गवेषणाएं कर रहे हैं। उन्हें लौकिकज्ञानी तो कहा जा सकता है पर सम्यग्ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। जो ज्ञान जनसंहार की सामग्री प्रस्तुत करके दुनिया को विनाश की ओर ले जाय वह सम्यग्ज्ञान नहीं, शुद्ध ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान है। ऐसे ज्ञान से संसार में कोहराम मचता है। अशान्ति का प्रसार होता है।

आज़ विज्ञान की बदौलत जितने अस्त्र शस्त्र बन रहे हैं, उतनी ही अधिक अशान्ति फैलती जा रही है। एक देश भयानक अस्त्र का निर्माण करता है तो दूसरा उसे मात करके और अधिक भयानक अस्त्र शस्त्र बनाता है। इस प्रकार यह दुर्भाग्यमयी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती ही चली जा रही है, जिसका कहीं ओर-छोर नजर नहीं आता। और इसका अन्त हो भी नहीं सकता, क्योंकि आधुनिक विज्ञान विशुद्ध ज्ञानमूलक नहीं है। मिथ्याज्ञानमूलक विज्ञान पिशाच की तरह मानव जाति को अधिकाधिक संकट में डाल रहा है और आश्चर्य की बात यह है कि लोग इसे मानवजाति का विकास कहते हैं! कतिपय समझदार लोग हैं, इस देश में और विदेशों में भी, जो जगत् को चेतावनी दे रहे हैं, कि इन अस्त्रों पर नियन्त्रण होना चाहिए-परन्तु उनका क्षीण स्वर दैत्यों के कान तक पहुँचता ही नहीं। कदाचित पहुँच भी जाता है तो वे उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। वे मानवजाति के विनाश की कोई चिन्ता नहीं करते। यह मिथ्याज्ञान का ही प्रभाव है!

आज जिस बम में जितनी ही अधिक जनसंहारक शक्ति है, वह उतना ही अच्छा बम माना जाता है। परन्तु याद रखना कभी कभी जो शस्त्रास्त्र दूसरों के लिए बनाए जाते हैं वे बनाने वालों का ही नाश कर देते है, एक बार अलवर रियासत का वजीर विलायत गया। वापिस लौटने लगा तो उसने बहुत-सी विदेशी वस्तुएँ खरीदीं। उसने एक जगह फाँसी का फंदा भी देखा तो पूछा—यह क्या है और किस काम आता है? दुकानदार ने कहा—यह फांसी का फंदा है। अपराधी को इससे फाँसी लगाई जाती है। वजीर बोला—यह तो बहुत अच्छी चीज है।

वजीर साहब ने फदा खरीद लिया। घर आये तो उनकी

भावना होने लगी कि मैंने फंदा खरीदा है, रुपये खर्च किये हैं। परीक्षा का समय आवे और इसका उपयोग किया जाय। तो रात-दिन वजीर के हृदय में यही पाप-भावना रहने लगी कि कोई फाँसी के योग्य अपराध करे और उस फंदे में उसकी गर्दन फँसाई जाय! इस प्रकार की दुर्भावना से महान कर्मों का बंध होता है! कहा है—

समझू शंकै पाप से, अणसमझा हरसंत।
वह लूखा वह चीकणा, इस विध कर्म बंधंत॥

जो ज्ञानी है और पुण्य-पाप के विवेक से विभूषित है, वह पाप कर्म करके आनन्द नहीं मानता। दुनियादारी के लिहाज से कदाचित् पाप क्रिया करनी पड़े तो भी वह संकोच अनुभव करता है, उसका अन्तस उससे पृथक् रहता है। वह यही सोचता है कि—क्या करूँ, हिंसात्मकक्रिया करनी तो नहीं चाहिए, पर विवश हूँ!

इस अलेप—भावना के कारण वह पुरुष रूक्ष कर्मों का बंध करता है, अर्थात् कर्मबन्ध होने पर भी कषाय की मंदता के कारण वह कर्म प्रगाढ़ फल प्रदायी नहीं होते।

मगर ज्ञानहीन मूढ पुरुष आन्तरिक भाव से और बड़े चाव से पापकर्म करता है और करके आनन्द मानता है। वह पापकर्म करते समय और करने के पश्चात् भी अतिशय प्रसन्न होता है। अपने आप को कृतकृत्य मानता है। मगर स्मरण रहना चाहिए कि ऐसे लोगों को अपने पापकर्म का अतिशय कटुक फल भोगना पड़ेगा। जब भोगने का समय आएगा तो नानी याद आ जायगी। शास्त्रकार तो स्पष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं कि—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसा ही फल मिलता मिलता है।

तो वजीर दूसरे का बुरा चिन्तन करता है। दूसरे के गले में फाँसी लगाना चाहता है, मगर—

काँटा किसी के मत लगा, गो मिस्ले गुल फूला है तू।
वह हक़ में तेरे तीर हैं, किस बात पर भूला है तू॥

उर्दू का शायर कहता है—ऐ मनुष्य! किसी को काँटा चुभाने की भावना मत कर। दूसरों के रास्ते में काँटे बिछा कर तू हृदय में फूल की तरह खिल गया कि वे आएँगे और उन के पैरों में काँटे चुभ जाएँगे। किन्तु जिनके लिए तू ने काँटे बिछाए हैं, उन्हें वे शायद चुभ जाएँ या न भी चुभें। यदि उनके पैरों में जूते होंगे तो काँटे टूट जाएँगे। वे बुद्धिमान् होंगे तो रास्ता बदल देंगे। कदाचित् चुभ भी गये तो वे उन्हें निकाल डालेंगे। मगर ऐ शूल बिछाने वाले! तेरे लिए तो वह शूल शूली बन कर ही रहेंगे!

तो जो मनुष्य दूसरों के लिए गढ्ढा खोदता है, उसके लिए कुंआ तैयार रहता है। वजीर के दिल में यह भावना रही कि मैं किसी को फाँसी लगाऊँ, इस भावना के फलस्वरूप वजीर स्वयं किसी पाप का अपराधी बना और वह फाँसी का फंदा उसी के गले में पड़ा।

राजकीय न्यायालय मे कभी-कभी अंधेर हो जाता है, परन्तु कर्म-सिद्धान्त की कचहरी में दूध का दूध और पानी का पानी ही होता है। वहाँ अंधेर के लिए कोई अवकाश नहीं है, भले ही देर-सवेर हो। यहाँ मिसल गुम हो सकती है

परन्तु वहाँ नहीं हो सकती।

मनुष्य की भावना का कभी-कभी तत्काल फल हो जाता है।

कहा है :—

इक आवन्दा इक जावन्दा, तेरा मेरा सच्च।
तेरा कागज बंच गया, मेरा कागज हत्थ॥

किसी का पाप उदय में आ रहा है, किसी का आने वाला है। किसी का पाप-पुण्य उदय में आ रहा है और किसी का उदय में आकर जा रहा है। किन्तु तेरा-मेरा अर्थात् सब का लेना—देना सच है। तेरी मिसल बाँच ली गई है और किसी की बांची जायगी। लेटरबाक्स में पत्र डाला जाता है तो किसी का ऊपर और किसी का नीचे रहा तो क्या हुआ? डाकिया आएगा तो सब को निकाल लेगा। कोई पत्र भले ही नीचे पड़ा हो, फिर भी वह अच्छा हो सकता है। उसमें कोई चीज् ऊँची लिखी हुई हो सकती है, यथा-दुकान में पाँच लाख की आमद हुई है या लड़के ने कोई उच्च उपाधि पा ली है। तो पत्र नीचे पड़ा है, मगर समाचार उसमें ऊँचे हैं। इसके विपरीत, एक पत्र ऊपर है परन्तु समाचार उसमें चिन्ता-जनक हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में वह ऊँचा पत्र भी नीचा हो सकता है। इस प्रकार के ऊँच-नीचपन का कोई मूल्य नहीं है।

पत्र का कागज चाहे काला, नीला, पीला, सफेद—किसी भी रंग का हो, उस कागज् का कोई मूल्य नहीं है, उसमें लिखे भावों का ही असर पड़ता है। इसी प्रकार चाहे कोई पत्र बड़ा हो या छोटा, इससे उसकी अच्छाई—बुराई का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जिस पत्र में भले ही दो पंक्तियाँ हों, परन्तु

खुशी की बात लिखी हो, वही अच्छा पत्र है और उसे पढ़ कर हरेक की तबियत खुश हो जाती है।

आशय यह है कि हमारा जीवन भी पत्रपेटी (लेटर वाक्स) के सदृश है। उसमें गम के या खुशी के, जैसे भी पत्र डालोगे, वही मिल जाएँगे। इस जीवन में जैसी-जैसी क्रियाएँ करोगे और भावनाएँ भरोगे, सब आगे मिलने वाली ही समझो। ऊँचे नंबर की भी बाहर आएंगी और नीचे नंबर की भी। यह निश्चित है कि वे पेटी में पड़ी रहने वाली नहीं हैं।

तो मैं कहने जा रहा रहा था कि हमने जो भी पत्र डाल दिये हैं, जब उदयचंद जी—चिट्ठीरसा आएगा अर्थात् कर्मोदय होगा तो क्रमशः सभी पत्र सामने आएंगे और जिसका जैसा पत्र होगा, उसे वैसा ही मिल जाएगा। संभव है कि यहाँ पता पूरा न होने से या कार्यकर्त्ता की असावधानी से कोई पत्र गुम भी हो जाय।

किन्तु वहाँ सभी पत्र सुरक्षित हैं। इसलिए जीवन की पत्र-पेटी में खुशी की डाक डालो, दुःख और उद्वेग की डाक मत डालो।

जीवन की घड़ियाँ क्षण-क्षण में गुजरती जा रही हैं। आयु अंजलि का पानी है जो बूंद-बूंद करके समाप्त हो रहा है। शास्त्रकार चेतावनी दे रहे हैं कि जीवन क्षण भगुर है। एक के घर में शिशु का जन्म होता है तो उत्सव मनाया जाता है और उसके पड़ौस में दूसरे के घर का प्रकाश लुप्त हो जाता है तो मातम मनाया जाता है। इस प्रकार हर्ष और विषाद के चक्र में संसार घूम रहा है। जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा। मरने में लेश मात्र भी शंका नहीं है—

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।

मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी वार ॥

सज्जनों ! दो दिन आगे अथवा दो दिन पीछे अवश्य कूच करना होगा। मृत्यु जीवन का अनिवार्य परिणाम है। इसमें कोई अपवाद नहीं हो सकता । चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, धरनेन्द्र वगैरह सब पर यह निसर्ग का नियम समान रूप से लागू होता है। पर जाने-जाने में अंतर है।

जो मनुष्य पूरी सामग्री लेकर चलता है उसे रास्ते में और मंजिल पर पहुँचने के बाद भी कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उसके लिए ब्यावर, जोधपुर, बम्बई और लंदन समान हैं। वह जहाँ भी जायगा, आनन्द ही आनन्द में रहेगा। क्योंकि 'जहाँ राम वहीं अयोध्या' की लोकोक्ति प्रसिद्ध है। पुण्यवान् जहाँ जाता है। उसके लिए वहीं पर नौ निधियाँ सुलभ होती हैं। इस प्रकार जो सुख-सामग्री के साथ जायगा- उसे कहीं कष्ट न होगा।

श्री मद् उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि मृगापुत्र को जब वैराग्य हो गया और वह माता-पिता से साधू बनने की सम्मति मांगने लगा तो उन्होंने काफी व्याघात डाला। बहुत कुछ प्रलोभन दिया। डर दिखलाया। मगर मृगापुत्र अपने ध्येय पर अटल एवं अचल रहा। वह अपने निश्चित: किये हुए पथ से हटने को तैयार न हुआ। माता-पिता ने कहा—पुत्र, साधु बनना बच्चों का खेल नहीं है। दीक्षा ले लेना तो सरल है, परन्तु संयम के नियमों का पालन करना अत्यन्त कठिन है। यहाँ बीमार हो जाने पर चिकित्सा के लिए चिकित्सक आ जाते हैं, और समुचित उपचार भी हो सकता है, परन्तु वहाँ इतनी सुविधा कैसे मिल सकती है? बेटा, तू राजकुमार है। तेरी काया अतिशय कोमल है। तुझसे मुनि-अवस्था के कष्ट नहीं सहे जाएँगे। उस अवस्था में सावद्य औषध आदि में किसी

भी वस्तु का सेवन नहीं किया जा सकता।

सज्जनों! मैं यहाँ चातुर्मास करने आया तो कुछ दिन बाद ही मुझे तकलीफ हो गई थी। एक भाई की डाक्टर से मेरे विषय में बात हो रही थी कि महाराजजी को यदि नींबु का रस मिले तो ठीक रहेगा। यह शब्द मेरे कानों में भी पड़ गये। तब मैंने कहा—तुम क्या कर रहे हो? खबरदार जो मेरे लिए कुछ किया? मेरे निमित्त कुछ भी नहीं करना है। हाँ, नींबू का सत मिल जाएगा तो मैं ले लूँगा।

बचना तो उत्तर दोषों से भी चाहिए, किन्तु मूल दोषों से तो बचना ही चाहिए।

हाँ, तो मृगापुत्र ने कहा— हे माता-पिता! आप कहते हैं सो ठीक है, किन्तु जंगल में स्वच्छन्द विचरण करने वाले हिरण जब बीमार पड़ते हैं तो उनके लिए कौन-सा दवाखाना खुला हुआ है? कौन डाक्टर उनका इलाज करते हैं? वे बीमार होने पर पड़े रहते हैं और अच्छे होने पर फिर विचरण करने लगते हैं और चरने लगते हैं। मैं भी मृग की तरह जीवन बताऊँगा। मैं कर्मों के फल को सहन-शील हो कर सहन करूँगा।

माता-पिता ने फिर कहा—वत्स, साधु जीवन का लंबा सफर है। तुमसे कैसे निभेगा?

मृगापुत्र—मुझ को यहाँ से जब जाना ही है, और रास्ता बहुत लम्बा है। यदि मेरे पास खर्चा-पानी नहीं होगा—रास्ते का साधन नहीं होगा तो मैं खेदखिन्न होऊँगा। दुःखित होऊँगा। अतएव जब मुझे जाना ही है तो रास्ते के लिए कुछ साधन जुटा लेना ही उचित है, जिससे सुगमता हो। उस रास्ते मे मेरी सार-सँभाल करने वाला तो कोई बैठा नहीं है, बीच में नानी का घर भी नहीं है जो मुझे नये मूंगों की खिचड़ी में भूरी भैंस का घी मिलाकर खिला देगी।

इसलिए जब मुझे जाना ही है तो साधन भी जुटाने होंगे. और वे साधन संयमी दशा में ही जुट सकते हैं। फिर रास्ते में मुझे कोई कष्ट नहीं होगा।

भाइयो कल सूचना मिली थी कि यहाँ मूथा जी के नोहरे में विराजमान बालब्रह्मचारिणी विदुषी महासती शीलकुंवर जी महाराज की गुरुणी जी श्री धूल कुंवर जी महाराज जो कि मेवाड़ प्रांत के गोगूंदा ग्राम में बहुत समय से वृद्धावस्था के कारण, स्थिर वास रूप से विराजमान थीं उनका वृद्धावस्था में स्वर्गवास हो गया है। सज्जनो! काल किसी का सगा नहीं है। हम और आप जैसे तो किस गिनती में है। इसने बड़े-बड़े तीर्थंकरों, चक्रवर्त्तियों, वासुदेवों एवं ऋषियों-मुनियों को भी नहीं छोड़ा है और उन्हें भी नियत समय पर प्रस्थान करना ही पड़ा है। हमें खेद इस बात का है कि हमारी माला में से एक मणिया पृथक् हो गया, किन्तु उन महासती जी ने अपनी साधना द्वारा अपने संयम को उज्ज्वल प्रमाणित किया हमें उनकी आयु समाप्त होने का खेद है, मगर अपने दिल को सँभाल कर मैं कहूँगा कि उन्होंने मानवदेह धारण करके संयम की दीक्षा और उसका भली भाँति पालन एवं निर्वाह भी किया और सफेद चादर में कहीं भी काला धब्बा नहीं लगने दिया। इस बात की खुशी भी है।

आज सवेरे ही यहाँ शोर मच गया और मुझ से लोग पूछने लगे कि—महासती श्री धूल कुंवर जी का स्वर्गवास हो गया है आज व्याख्यान होगा या नहीं ? मैं ने कहा—खेद के पीछे क्या धर्मध्यान से वंचित हो जाना चाहिए या ऐसी स्थिति में विशेष धर्माराधन करना चाहिए ? दिवंगत आत्मा के गुण गाकर, विशेष रूप से त्याग-प्रत्याख्यान करके उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित

करनी चाहिए। हम आप लोगों को तो मोहनीय कर्म जीतने के लिए कहे और स्वयं मोह के शिकार हो जाएँ तो क्या बात हुई !

हाँ, छद्मस्थावस्था के कारण ऐसी अवस्था में आर्त्तध्यान हो जाता है, किन्तु ऐसी परिस्थिति मे अगर व्याख्यान सुनने लगें या सुनाने लगें तो उस समय उपदेश सुनने से आर्त्तध्यान मिट जाता है और शोक-सन्ताप हल्का पड़ जाता है।

जिस समय मेरा चातुर्मास जोधपुर मे था, उस समय किशनगढ़ में स्वामी वख्तावरमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। वे अच्छे प्रभावशाली सन्त थे और दीक्षा तथा वय में वृद्ध थे। मैंने उस दिन भी व्याख्यान किया। मैंने कहा कि यह ठीक है कि वे वृद्ध सत थे, सयम के साधक थे, प्रभावशाली सन्त थे। वे आज हमसे पृथक् हो गये हैं। उन्होंने अपने जीवन को धर्म के मार्ग पर चलाया तो हमे भी उनका अनुकरण करना चाहिए। जीने के तरीके से जीना चाहिए। हम जीएँ तो उज्ज्वल मुँह करके जीएँ, न कि काला मुँह करके जीएँ। हम उनके पवित्र जीवन से शिक्षा लें और अपने जीवन को उनके अनुरूप बनाएँ। वे मर गये तो हमको भी जाना है किन्तु यहाँ खुशबू फैला कर जाना है ताकि उससे दूसरे भी लाभ उठा सकें।

तो जब मैंने उनके जीवन पर प्रकाश डाला तो सब कहने लगे-यह तो बहुत उपयुक्त प्रोग्राम रहा। तो आशय यह है ऐसे समय पर विशेष रूप से धर्माराधना करनी चाहिए न कि शोक।

आज महा सती शील कुंवरजी अपनी गुरणीजी के स्वर्गवास हो जाने के कारण यहां पर व्याख्यान में भी नहीं आई हैं, क्योंकि व्यवहार को मानना पड़ता है। किन्तु आप को सुन कर आश्चर्य

होगा कि मेरे गुरुदेव का, जिन्होंने मुझे दीक्षित किया और दुनिया में प्रभावशाली योग्य बनाया, जब वे देवलोकवास हो गये तो मैं आंसू तक नहीं लाया और दूसरे ही दिन उनके जीवन पर मैंने प्रकाश डाला और बतलाया—वे मेरे जीवन के सहारे थे। आज जैसा भी मेरा जीवन है, उन्हीं की कृपा का फल है। उन्होंने मेवाड़ प्रदेश के वगड़ुन्दा गांव में जन्म लिया था। उनके पिता के नियम था कि घर का कोई व्यक्ति दीक्षित होता हो तो मैं मना नहीं करूंगा। उनकी सगाई होने वाली थी, परन्तु वे सगाई करने के लिए सहमत नहीं हुए। जब वे कुटुम्बियों के कहने-सुनने पर भी नहीं माने तो उन्हे वहाँ के राजा के पास ले जाया गया। राजा ने पूछा-तुम साधु क्यों बनते हो ?

वे बोले-मेरी आत्मा संसार में रहना स्वीकार नहीं करती। राजा ने कहा-तुम्हारी तो सगाई हो रही है न ?

उन्होंने स्पष्ट कह दिया-दुनिया के धंधे तो अनादि काल से चल रहे हैं। मैं उनसे ऊब गया हूं और अब नये सिरे से उनमें नहीं फँसना चाहता।

इस प्रकार दृढ़ निश्चय देख कर पिता ने स्वयं उन्हे दीक्षा दिलवा दी। वे बालब्रह्मचारी थे। संयमपालन की उनकी दृढ़ता असाधारण थी। उन्हीं के प्रताप से मुझ पर भी वही असर पड़ा है। आज मेरे पास जो कुछ भी है, मेरा नहीं, उन गुरुदेव का ही है। मैं गुरुदेव का कोटिश धन्यवाद करता हूँ।

तो मैंने गुरुदेव के जीवन पर कहा तो जो लोग शोकाकुल थे, वे भी कहने लगे-भौतिक संबंध का अन्त हो गया है, मगर वे जो हमें दे गये हैं, उसे सँभाल कर रखना ही हमारा उत्तम कर्त्तव्य है।

सज्जनो ! भगवान् महावीर ने गौत्तम स्वामी से कहा था :—हे गौत्तम ! मेरे प्रति तेरा बहुत रागभाव है, क्योंकि तेरा-मेरा बहुत जन्मों से सबंध चला आ रहा है। तू सेवक और मैं स्वामी रहा हूँ। किन्तु हे गौत्तम ! अब इस राग का त्याग कर दो, क्योंकि यह स्नेहराग भी कर्मों के बन्ध का कारण है। हे गौत्तम ! अब तक हम-तुम स्वामी सेवक रहे हैं, परन्तु अब एक समान हो जाने वाले हैं। दोनों में से कोई न ठाकुर होगा, न चाकर होगा। तुम भी सिद्ध परमात्मा बन जाओगे और मैं भी उसी पद को प्राप्त करने वाला हूँ। दोनों समान पद के भागी होंगे।

भद्र पुरुषो ! शस्त्र तो वही है जो समय पर काम आवे। यों ही तलवार और छुरा बाँध कर फिरने वाले तो बहुत हैं किन्तु समय पर जूझने वाले, बलिदान देकर भी रक्षा करने वाले विरले ही होते हैं। अवसर आने पर शस्त्र को काम में लाने वाला ही सच्चा बहादुर होता है। इसी प्रकार जब हमारे ऊपर मोह रूपी शत्रु आक्रमण करे तो ज्ञान के शस्त्र से उसका मुकाबिला करके विजय प्राप्त करनी चाहिए। शत्रु के आक्रमण के अवसर पर हम यदि हथियार डाल कर बैठ रहें तो उस हथियार की उपयोगिता ही क्या हो सकती है ?

तो जो साधु या साध्वी जिस पथ का पथिक बना था और उस पर अविश्रान्त, अविराम गति से चलता रहा और क्षण भरके लिए भी इधर-उधर नहीं भटका और उसी पथ पर चल कर अपनी मंजिल पर पहुँचा, उसने अपना जीवन सफल किया है। आज यदि महासती धूलकुंवर जी की कमी हमें खटक रही है तो इस बात की खुशी भी है कि उन्होंने अपने तपोमय एवं संयममय जीवन को सार्थक किया है।

संसार से वेदाग विदा हो जाना आसान बात नहीं। कई तो राह की झाड़ियों में ही उलझ जाते हैं, कई ठोकरें खाकर गिर जाते हैं और कई एक कांटों में फंस जाते हैं। साध्वी जी बड़ी सावधानी के साथ संयम के राजपथ पर चली। ऐसी महान् आत्मा के स्वर्गवास के उपलक्ष्य में हम को कुछ न कुछ त्याग करना चाहिए। अतएव यहाँ जितने भी स्त्री-पुरुष उपस्थित हैं, कम से कम पाँच दिन के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करें। सब अपने-अपने मन में इस प्रतिज्ञा को धारण कर लें सब ने हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा करली।

तो मैं कहने जा रहा था कि आज व्याख्यान करने से कितना लाभ हुआ? असंख्य सम्मूर्छिम जीवों की हिंसा का पाप टला। एक बार भोग करने से उत्कृष्ट नौ लाख सञ्ज्ञी जीवों की घात होती है। इसके अतिरिक्त आप सब को साध्वी जी के जीवन की उत्कृष्टता का भी पता चला। आखिर तो हम सभी को संसार से जाना है, प्रत्येक के जीवन का अन्तिम क्षण आता ही है।

कल मेरे पास दो भाई आये और कहने लगे-आज दिवाकरजी श्री चौथ मल जी महाराज की जयन्ती है। मैंने उनसे पूछा-जयन्ती है सो तो ठीक है, पर आपने भी कोई कार्यक्रम बनाया है या नहीं? मेरी समझ में नहीं आता कि आप कैसे जयन्ती मनाते है? क्या कुलड़ी में गुड़ फोड़ लेना चाहते हो? जब पूज्य जवाहरलाल जी महाराज की जयन्ती आई तो जवाहरमित्र मंडल वालों ने, सुना है, कि अपने मंडल में बैठ कर ही मना ली। हमारे ये महापुरुष थे, जिन्होंने इस समाज के लिए बड़े से बड़ा आत्मभोग दिया। अरे उन्होंने मरुस्थल भूमि में प्राणों तक की बाजी लगा कर अहिंसा भगवती का झंडा लहराया। पूज्य जवाहरलालजी महाराज के विरोधियों ने वहाँ क्या-क्या नहीं किया? विरोधियों के पास राज्यबल था किन्तु उनके पास तो

आत्मबल-पुण्यबल ही था और उसी के सहारे उन्होंने विरोधियों का मुकाबला करके अपनी संस्कृति का विस्तार किया।

तो ऐसे महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाई जाएँ और फिर कुलड़ी में गुड़ फोड़ना चाहते हो! मैंने उन भाइयों से कहा तुम्हें कारोबार बंद रखना चाहिए और दूसरों को भी प्रेरणा देनी चाहिए। उनकी झलक सारे शहर में दिखलानी चाहिए। क्या चोरी का माल समझ रक्खा है दिवाकरजी महाराज के जीवन को? वह दिवाकर जिसने चारों खूटों को झुका दिया और जिसके जीवन की ज्योति की झलक भील की झोंपड़ी से लेकर उदयपुर-महाराणा के महलों तक जगमगाई फिर भी उनकी जयन्ती हम अन्दर ही अन्दर मनाएँ! यह बड़ी लज्जा की बात है! होना तो यह चाहिए कि उस दिन कारोबार बन्द रहे, सब तैयार होकर आवें, सुन्दर समय हो और फिर उनके जीवन का दिग्दर्शन कराया जाय। मगर तुम तो मुफ्त का माल देखना चाहते हो हरएक काम के लिए छुट्टी का दिन रविवार चाहते हो? यह कैसी सौदाबाजी है? उर्दू का शायर कहता है-

इबादत करते हैं जो लोग जन्नत की तमन्ना के लिए।
इबादत तो नहीं है लेकिन एक तरह की तिजारत है।

जो कहते हैं–हमें खुदा की इबादत करनी चाहिए क्योंकि इबादत करने से हूरें मिलेंगी, और स्वर्ग के विमान मिलेंगे उनके लिए कवि कहता है-यह वास्तव में इबादत नहीं, सौदेबाज़ी है।

तो दिवाकर जी के विषय में क्या-सुनना-सुनाना है? उनके विषय में कुछ कहना सूर्य को चिराग़ दिखलाना है। उन्हें पदवी ही दिवाकर की थी। मगर वास्तव में वे दिवाकर से भी बढ़कर थे। वे चैतन्यप्रकाश के धनी थे। दीपक को तेल, बत्ती आदि

की एवं विजली को बल्व आदि की आवश्यकता होती है; पर दिवाकर यानी सूर्य का प्रकाश स्वावलम्बी है। उसे किसी तेलबत्ती के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु होता है उसका प्रकाश जड़ रूप ही। जैनदिवाकर का प्रकाश तो ज्ञानमय था।

मगर आज उनके कई भक्त ऐसे भी बैठे होंगे जिनको शायद यह भी पता न हो कि दिवाकर का अर्थ क्या है?

अजमेर में साधु सम्मेलन हुआ तो उन में एक ऐसे प्रतिनिधि मुनि भी थे। एक बार मैंने उनसे पूछा-क्या आप भी प्रतिनिधि बनाये गये थे? उन्होंने सरल भाव से कहा-हाँ, मैं भी प्रतिनिधि था, किन्तु मुझको एक बात का फिक्र था कि यदि वहाँ किसी ने मुझसे पूछ लिया कि प्रतिनिधि किसको कहते हैं? तो मैं क्या उत्तर दूँगा? मुझे पता नहीं था कि प्रतिनिधि किसको कहते हैं?

यही समस्या आज दिवाकर शब्द के सम्बन्ध में है। सज्जनों 'दिवा' का अर्थ है दिन और 'कर' का मतलब है करने वाला अर्थात् जो दिन करे, प्रकाश करे और रजनी का अन्त कर दे, वह दिवाकर कहलाता है।

जिनकी आँखें हैं वे सब उसे देख रहे हैं। बाल, वृद्ध, जवान हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब देख रहे हैं। वह सूर्य किससे छिपा है? जिन्हें नहीं दीखता वे भी उसके तेज के स्पर्श से उसे पहचान लेते हैं। ऐसी स्थिति में उस दिवाकर के लिए कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उसका प्रकाश तो वहाँ भी पहुँचता था जहाँ इस आकाशगत दिवाकर का भी प्रकाश नहीं पहुँच सकता। यह आकाशगत दिवाकर अन्तश्चेतना में प्रकाश नहीं कर सकता, मगर वह स्वर्गीय दिवाकर अन्तरतर को भी आलोकित कर देता था उन्होंने जगह-जगह राजे महाराजों से देवी देवताओं पर पशुबली न देने के पट्टे लिखवा लिए थे उनसे अभयदान दिलाकर हजारों

मूक पशुओं को प्राण दान दिया था।

राजा-महाराजा भी उनके चरणों में झुक गये। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में वह पहुँचे और हजारों पंचेन्द्रिय प्राणियो को अभयदान दिलाया। उन जीवों को आत्मा को शान्ति मिली।

भौतिक शरीर किसी का न रहा है और न रहेगा। जो अच्छा काम करेंगे उन्ही का नाम रहेगा। उर्दू का कवि कहता है—

शहीदों के मजारों पर जुड़ेंगे हर बरस मेले।

धर्म पर मरने वालों का, यही बाकी निशां होगा॥

दुनिया में प्रति वर्ष भिन्न-भिन्न निमित्तों को लेकर मेले भरते हैं किन्तु जो धर्म के लिए कुर्बान होता है, उसके जीवन के नाम पर हजारों मेले होते हैं।

जो धर्म पर मर गये हैं उन्हीं का नाम यहाँ रहेगा। उनके गुणो का रिकार्ड बन जाएगा। प्रत्येक शरीर का अन्त तो अवश्यभावी है, परन्तु यशशरीर अमर है उनके जीवन की स्मृतियाँ कभी नष्ट होने वाली नहीं हैं। उनकी गुणगाथाएँ नभो मंडल में गूंजती ही रहेगी।

तो उन दिवाकर जी के विषय में क्या कहना है और क्या सुनाना है? वह तो स्वय प्रकाशमान है। उसके तेज से कौन अपरिचित है? वह आज भी सहस्रों नर-नारियों के अन्तःकरण मे जीवित है। उसे दूसरे के सहारे से चमकने की आवश्यकता नहीं। वह अपनी 'दिव्य-ज्योति' से प्रकाशित हो रहा है। उसकी अमर कहानियाँ विश्व में विश्रुत हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि हम उन पुरुषो के चरणचिह्नों पर चलें और उनके गुणों को अपने जीवन में उतारें।

तो मैं कह रहा था कि हमें सर्वप्रथम कर्म बन्धन के कारण और उनको तोड़ने का उपाय समझना चाहिए फिर इन बन्धनों को तोड़ने का भरशक प्रयत्न करना चाहिए इस प्रकार जो बन्ध और मोक्ष को जानते हैं और कर्मों को नष्ट करने का उपाय करते हैं वे संसार-समुद्रसे पार हो जाते हैं।

ब्यावर
१६-११-५६

दुस्तर भार उतार रे !

उपस्थित धर्मबन्धुओ और बहिनो !

कल बतलाया था कि हमारे पथप्रदर्शक, देवाधिदेव श्रीतीर्थंकर भगवान् ने तीन बातों की तरफ लक्ष्य दिलाया है। उन्होंने कहा है-ऐ मनुष्य ! यदि तू आत्मोत्थान चाहता है तो पहले ज्ञान प्राप्त कर। ज्ञान ही तेरा सच्चा मार्गदर्शक है। ज्ञान के द्वारा ही तुझे मार्ग की सूझबूझ मिलेगी। ज्ञान के अभाव में प्रथम तो तू गतिशील ही नहीं हो सकता और कदाचित् गतिमान् हो गया तो भी कुमार्ग की ओर चला जायगा। सुख के स्थान पर न पहुँच कर उलटे विनाश के मार्ग पर चल पड़ेगा।

इस प्रकार सर्वप्रथम भगवान् ने ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है। वही ज्ञान सफल और सार्थक है और वही आत्मोद्धारक है जिसके द्वारा मनुष्य का लक्ष्य बन्धन की तरफ जाता है और वह सोचता है-मैं कर्मों से बँधा हुआ हूँ। जकड़ा हुआ हूं और बन्धनों ने मेरी स्वतन्त्रता छीन ली है। मैं स्वतंत्र विचरण करने का स्वभाव वाला हूँ किन्तु इन बन्धनों ने मुझे परतंत्र बना दिया है।

तो, दूसरे नम्बर पर बन्धनों को जानना होगा। समझना होगा कि मुझे किसी और ने नहीं बाँधा है। उन कर्म बन्धनों ने मुझे स्वयं आकर वेष्टित नहीं किया है किन्तु मैंने अपनी भूलों के कारण स्वयं

ही बन्धनों में अपने आपको फँसा दिया है। किसी दूसरे में मुझे बाँधने की शक्ति नहीं है। न कोई मुझे बन्धनबद्ध कर सकता है और न मुक्त कर सकता है। मनुष्य अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग करके स्वयं बन्धनों में पड़ता है और ज्ञान की परम ज्योति प्राप्त करके स्वयं मुक्ति प्राप्त करता है।

यह तथ्य ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। यही ज्ञान की सार्थकता है। जो ज्ञान इस प्रकार आत्मा को प्रकाश देता है, वही सफल ज्ञान है। कहा है—

ज्ञान वही जो करे हित कारज,
ध्यान सोई मन को थिर आने।

वही ज्ञान समीचीन है, वही विद्या प्रशस्त है और वही बोध सफल है जिसके प्रकाश में आत्मा अपना और पराया हित कर सके जिस विद्या को प्राप्त करके मनुष्य अपना अहित करता है और दूसरे का भी अहित करता है, वह वास्तव में ज्ञान नहीं, अज्ञान है। सच्चा ज्ञान आत्मा को प्रशस्त पथ की ओर ले जाता है।

ध्यान भी वही वास्तविक कहा जा सकता है जिसमें आत्मचिन्तन हो। आँखें मूंद कर बैठ गये और हाथ-पैर सिकोड़ लिये, मगर मन इधर-उधर भटक रहा है, तो वह ध्यान नहीं है। जिस ध्यान से मन की चंचलता का निरोध हो जाय, मन पर नियंत्रण स्थापित हो जाय, विषयवासना की ओर से अवरुद्ध होकर अन्तर्मुख बन जाय, वही सच्चा ध्यान है।

ध्यान में आत्मचिन्तन होना चाहिए। मन आत्मा में लीन हो जाना चाहिए। जब मन आत्मा में ही लीन होकर आत्मस्वरूप में रमण करता है तब अपूर्व, अनुपम अलौकिक और अद्भुत आनन्द

की उपलब्धि होती है।

ध्यान ऐसा न हो कि घर-बार का, दुकान का, खेतीवाड़ी का या ऐसी ही किसी अन्य बात को सोचते रहे और फिर 'णमो अरिहंताणं' कह कर पार लिया। इस विषय में कोंकण देश के साधु का उदाहरण आता है। सब मुनियों ने ध्यान पार लिया, किन्तु एक चेले का ध्यान पूर्ण न हुआ। गुरु ने प्रतीक्षा की। काफी समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी जब ध्यान समाप्त होता न देखा तो गुरु ने कहा-शिष्य ! बहुत समय हो गया है।

यह सुन कर चेले ने एकदम ध्यान पूर्ण करके कहा-क्या बतलाऊँ, मैंने सोचा कि वर्षा हो गई है और खेती बोने का समय हो गया है। जमीदार खेतों में हल चला रहे हैं और बीज बो रहे हैं। मगर मैं जिन्हें छोड़ आया हूँ उन मेरे लड़कों ने न जाने खेत जोता है या नहीं और बीज बोया या नहीं ? खेत में बीज नहीं बोया होगा तो धान्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? उनका निर्वाह कैसे होगा ?

चेले के इस भोलेपन को जान कर गुरुजी ने कहा अरे भोले जीव ! यह क्या ध्यान है ! तूने तो आरंभ-समारंभ की बातों का चिन्तन किया है। मुमुक्षु जीव को तो इस प्रकार के चिन्तन से बच कर आत्मचिन्तन करना चाहिए। तेरा ध्यान धर्मध्यान नहीं, आर्त्तध्यान है। वह अप्रशस्त ध्यान और संसार का कारण है और मोक्ष का विरोधी है।

तो वास्तविक प्रशस्त ध्यान वही है जिसमें मन की चंचल वृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाएँ, मन नियंत्रित हो कर एकाग्र हो जाय।

संसार में बुद्धिमान कहलाने वाले बहुत हैं, परन्तु असल में बुद्धिमान् वही है जिसे विशिष्ट बोध प्राप्त हो, ऐसा बोध कि जिससे परमार्थ को लखा जाय। और पण्डित वही है जो तत्त्व

को पहचाने। पण्डित पुरुष अपने से विशिष्ट विद्वान् की प्रशंसा करता है, उसके प्रति आदर का भाव व्यक्त करता है; स्वयं सदाचारी और सुशील होता है।

इस प्रकार जो ज्ञान, बंध और मोक्ष का बोध करावे वही सम्यग्ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि आत्मा कर्मों से ही बद्ध है और उसका मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व तीन प्रकार का, दस प्रकार और पच्चीस प्रकार का है।

मिथ्यात्व अनादि काल से मनुष्य के पीछे पड़ा है। वह नाना प्रकार से जीव को भ्रम में डाल कर सन्मार्ग से विमुख करता है और असन्मार्ग में प्रवृत्त करता है।

अभिग्रहिक मिथ्यात्व के प्रभाव से मनुष्य वस्तुस्थिति को समझने और निर्णय करने की बुद्धि होने पर भी सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। अपनी पकड़ी गधे की पूछ को छोड़ने के लिए उद्यत नहीं हो पाता। इस मिथ्यात्व से प्रभावित मनुष्य कहता है—हमारे पूर्वज बहुत ज्ञानी और समझदार हुए हैं। जिन्होंने इस धर्म को चलाया वे शास्त्रज्ञ थे और तत्त्व गवेपक थे। इस धर्म को बड़े बड़े वकील, बैरिस्टर और धनवान् मानते हैं तो क्या वे सब मूर्ख मान लिए जाएँ? वे इस धर्म को मानते हैं तो हम भी मानते हैं। हम इसे त्याग देने को तैयार नहीं। इसी से हमारा निस्तार हो जाएगा।

भाइयो! आपको विदित होना चाहिए कि अक्षर ज्ञान अलग और तत्त्वज्ञान अलग है। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। मुक्ति प्राप्त करने में अक्षरज्ञान काम नहीं आता, वहाँ तो आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है। ऐसा ज्ञान थोड़ा हो, तो भी वह हितकर

है, परन्तु तत्वज्ञान से प्रतिकूल बहुत अत्तर ज्ञान भी अहितकर होता है ।

जो कहते हैं—हमारे धर्म को बड़े-बड़े सत्ताधीश, विद्वान् और धनवान् मानते हैं, वे भ्रम में हैं । यहाँ सत्ता या धन का प्रश्न नहीं है । उनकी दृष्टि कुछ भिन्न ही प्रकार की होती है। सत्ताधीश सत्ता के मद में और धनवान् धन के मद में पागल हैं। उनको धर्म जैसी वस्तु को पहचानने और परखने का अवकाश ही कहाँ है ? अतएव उनके मानने या कहने से धर्म में सचाई नहीं आ जाती । तथ्य तो यह है कि सत्य स्वावलम्बी है, पर निर्भर नहीं । वह अपने आप में सत्य है । किसी के मानने अथवा न मानने पर सत्य की सत्यता अवलंबित नहीं है । जो सत्य है वह सत्य ही रहेगा, भले सारी दुनिया उसे असत्य करार दे दे । इसके विपरीत, असत्य किसी के सत्य मानने से सत्य नहीं बन सकता ।

मनुष्य की मान्यता या कल्पना के बनावटी यंत्र में सत्य नहीं ढाला जाता । वह स्वत है और मनुष्य लाख सम्मतियाँ एकत्र करके भी उसे असत्य नहीं बना सकता ।

हाँ, तुम चाहो तो सत्य को असत्य और असत्य को सत्य करार दे सकते हो, पर ऐसा करके तुम स्वयं ही धोखा खाओगे सत्य सत्य ही रहेगा, असत्य असत्य ही रहेगा । वस्तु का मूल स्वभाव तुम तो क्या इन्द्र भी नहीं बदल सकता ।

तो बड़े-बड़े धनवानों और सत्ताधीशों के मानने से ही कोई धर्म सच्चा नहीं हो सकता । एक निर्धन धर्म का पारखी हो सकता है और धनवान् नहीं भी हो सकता । धनवान् तो एक पागल और अनाड़ी, जिसे धोती बाँधनी भी न आती हो, हो सकता है । ऐसे लोगों को भी धन मिल सकता है । लक्ष्मी की प्राप्ति लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है और ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म

के क्षयोपशम से मिलता है। कपड़े के बाजार में ऊन और ऊन के बाजार में कपड़ा नहीं मिल सकता। सब के बाजार अलग-अलग हैं, आत्मा के विभिन्न गुण विभिन्न कारणों से प्राप्त होते हैं।

एक निर्धन व्यक्ति ने यदि धन प्राप्ति के योग्य कर्म नहीं किया है किन्तु ज्ञानप्राप्ति का उपाय किया है, वह ज्ञानवान् बन सकता है। आज सैकड़ों विद्वान् हैं जो धनवान् नहीं, निर्धन हैं। धन तो बुद्धि के पीछे-पीछे फिरता है। बढ़िया दिमागदार वकील राजाओं से एक-एक मामले में लाख-लाख रुपया ले लेता है।

यह तो लौकिक ज्ञान की बात हुई। मगर लोकोत्तर ज्ञान तो उससे भी बड़ा है। जिसे लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त है वह भौतिक धन से वंचित होने पर भी महान् धन का स्वामी है। धनी अगर मिथ्या-दृष्टि है तो वह धर्म को नहीं समझ सकता।

सज्जनों! धर्म के प्रवर्त्तक कौन थे? साम्राटों अथवा चक्रवर्त्तियों ने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की है या अकिंचन भिक्षुओं ने? धर्म को समझने और अराधन करने के लिए तो विद्यमान धन को भी ठुकराना पड़ता है। ऐसी स्थिति में धनवानों की मान्यता को धर्म की सत्यता की कसौटी कैसे बनाया जा सकता है?

तो कई लोग ऐसे है जो वस्तुस्वरूप को जान लेते हैं, पहचान लेते हैं, किन्तु उसको ग्रहण करने को तैयार नहीं होते। ऐसे लोग यही कहते हैं—बात तो सच्च है, मगर हमारे दादा-परदादा जिस धर्म को मानते रहे हैं, उसे कैसे छोड़ा जाय? उसे छोड़ देने से पूर्वजों का नाम डूब जायगा! इसी को कहते हैं रूढ़िवाद।

धर्म के विषय में इस प्रकार का विचार करने वाले लोग, क्या अन्यान्य विषयों में भी इसी प्रकार विचार करते हैं? क्या वे अपने रहने

के लिए पुरखाओं के पुरानी पद्धति के मकान छोड़ कर नये ढंग के बंगले नहीं बनवाते ? क्या वे वही पुरानी पौशाक पहनते हैं जो उनके पूर्वज पहनते थे ? पुराना धंधा छोड़ कर लाभदायक नया धधा नहीं करते ? वास्तव में ऐसी बातों मे तो वे पूर्वजों का कुछ भी विचार नहीं करते, मगर जब धर्म का प्रश्न आता है तो सत्य को समझ कर भी असत्य का आचरण करते हैं। उनका कोई आदर्श नहीं, सिद्धान्त नहीं; वे निराधार मनगढंत बातो पर चलते है। बिना पैंदी के लोटे हैं कभी इधर तो कभी उधर लुढ़क जाते हैं। उनकी यह अनिश्चित नीति उन्हे सच्चे मार्ग की ओर ले जाने से रोकती है।

हमारे सामाजिक और व्यक्तिक जीवन में अनेक प्रकार का रुढ़िवाद घुसा है। समाज-शरीर में एक नहीं, अनेक रोग घर किये हुए है। इन सब का इलाज करना होगा। तभी समाज स्वस्थ और दृढ हो सकेगा। मगर कठिनाई यह है कि डाक्टर दवा देता है, इजेक्शन लगाता है, फिर भी मरीज बदपरहेजी कर डालता है और अपथ्य का सेवन करके डाक्टर के प्रयत्नों को व्यर्थ बना देता है। हाँ, जिनका भाग्य अच्छा और शुभ कर्मों का उदय था, उन्हें सफलता अवश्य मिली है।

सज्जनों ! डाक्टर बुद्धू नहीं है। उसे सब कुछ मालूम है वह दिल-दिमाग रखता है। जानता है कि मेरी दवा का किसको कितना असर हुआ है, कितनी सफलता मिली है। वह यह भी समझता है कि बोतलें की बोतलें खाली हो गई हैं और लाभ नहीं हुआ है; फिर भी डाक्टर निराश नहीं है और अपनी असीम करुणा भावना से प्रेरित हो कर इलाज किये जा रहा है। वह चाहता है कि किसी भी प्रकार रोगी को आरोग्य लाभ हो।

अगर किसी को प्रगाढ़ असातावेदनीय कर्म का उदय है तो

दवा असर नहीं करती, मगर डाक्टर तो बिना मिहनताना लिये इलाज करता ही जा रहा है।

और हमे क्या लेना है? हमे तो अलख जगाते जाना है। दे उस का भी भला और न दे उस का भी भला। जो जागेगा सो पावेगा, जो सोएगा सो खोएगा।

मानो न मानो यह मर्जी तुम्हारी,
हम उपदेश की झड़ियाँ लगाये जायेंगे।
प्रभु वाणी यह सब को सुनाये जाएंगे।

मेघ का काम है उदारचित होकर छमाछम बरसते जाना। स्थल हो, जल हो, नदी हो, पहाड़ हो, खेत हो, सब पर समान रूप से बरसना उसके दिल में दुई नहीं होती। जाति-पाति की संकीर्णता का विचार नहीं होता। वह एक ही प्रकार की सद्भावना से बरसता है। अपनी निधि का त्याग कर देता है।

जो भूमि उपजाऊ है वह तो उस पानी मे अनेक प्रकार के पाक तैयार कर देती है और जो निकम्मी-ऊसर-भूमि है, वह डाले हुए बीज को भी निगल जाती है। मगर होशियार कृषक ऊपर भूमि को भी उपजाउ बना देता है खाद डाल कर।

सज्जनो! चार चार महीने तक इस फकीर ने जमीन को ठीक बनाने में कसर नहीं रखी है। सब संभव साधन जुटाये हैं। बनने वाले बने हैं और जो नहीं बने हैं, समझना चाहिये कि उनकी भव स्थिति नहीं पकी है। मगर हम तो आस्तिक हैं, अतएव आशावादी हैं।

किसान बहु मूल्य बीज मिटी में मिला देता है केवल आशा के सहारे। अगर मिट्टी मे बीज मिलाने पर किसी को पाक न मिलता तो

कोई भी मिट्टी में बीज न मिलाता।

प्रबल भावना कभी खाली नहीं जाती। यहाँ पर भी अनेक जीवों ने मिथ्यात्व का त्याग किया है। प्रतिक्रमण करने वालों और 'मिच्छा मि दुक्कडं' देने वालों में भी कई मिथ्यात्व के पुजारी थे। उन्हें भी पता चला कि हम आज तक भूल में थे। ऐसे लोगों का भी जीवन परिमार्जित हुआ है। इसी प्रकार लगातार बोध मिलता रहे तो जीवन में परिवर्त्तन अवश्य होता है। पर इसके लिए कड़ी मिहनत करनी पड़ती है। कभी-कभी हल को हलवानी टूट जाती है और बैलों के घाव हो जाते हैं, फिर भी मारवाड़ के धोरी तो अपना भार वहन में मशहूर हैं।

पोली जमीन में तो छोकरा और डोकरा बुढ़ा भी हल चला सकता है किन्तु कठोर भूमि को जोतने के लिए मजबूती होनी चाहिए। इसी प्रकार भद्र पुरुषो ! जितना कठोर साधना क्षेत्र होगा, उसके लिए उतने ही सुदृढ़ साधन जुटाने होंगे।

तो कठोर भूमि भी उपजाऊ बन सकती है। अनन्त-अनन्त काल के मिथ्यात्वी भी सम्यक्त्वी बन जाते हैं।

मैं कहने जा रहा था कि मनुष्य जो भी क्रिया करें। सत्य को लेकर करे, झूठ, पाखण्ड और रूढिवाद को लेकर न चले। ऐसे सत्यसेवी की अवश्य विजय होगी। शास्त्रकारों ने सत्य को बहुत ऊंचा माना है। सत्य के प्रभाव के सामने कुछ भी असाध्य नहीं है, जो असाध्य प्रतीत होता है वह भी साध्य हो जाता है।

सत्य भगवान् में असीम, अनन्त शक्ति है। यश चाहने वालो ! यश की एषणा करने वालो ! यश के लिए तुम घर को लुटा देते हो। विवाह-शादी के अवसर पर होड़ लगा देते हो। घर चाहे लुट जाय पर यश मिलना चाहिए, यही तुम्हारा संकल्प

होता है। यश के लिए कठोर से कठोर काम करने को भी तैयार हो जाते हो। किन्तु यह यश झूठा है और इसके पीछे कोई तथ्य नहीं है। यह तो घास की अग्नी है जो सहसा भभक कर शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। यह स्थायी वस्तु नहीं है। शास्त्रकार कहते हैं कि सत्य शाश्वत श्रेयस और यश का मूल है। आज धर्मपुत्र युधिष्ठिर को कौन नहीं जानता? छोटे-छोटे बालकों और बालिकाओं की जीभ पर भी उनका प्रशस्त नाम बोल रहा है। वे सत्य के प्रताप से ही विख्यात हुए। यद्यपि वे कुन्ती के पुत्र थे, किन्तु उन्हें 'धर्मपुत्र' कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ

जो विशुद्ध धर्म है वह सत्य है और विशुद्ध सत्य है, वही धर्म है।

महाराजा हरिश्चन्द्र को इस भूतल पर कौन नहीं जानता? उनकी यशोगाथा समग्र भारत मे ही नहीं, विदेशों में भी फैली हुई है।

ऐसी अनेक आत्माएँ हैं जो सत्य को अपनाकर यश की भागी बनी हैं। मगर आज सत्य के प्रति उपेक्षावृत्ति दिखाई देती है। याद रखना, अगर सत्य का सन्मान नहीं करोगे तो दुनिया तुम्हे भी सन्मान की दृष्टि से न देखेगी। यदि तुम सत्य को सद्भावना से देखोगे तो दुनिया भी तुम्हें सद्भावना से देखेगी। लोग प्रातःकाल उठकर तुम्हारे दर्शन करके अपने जीवन को कृतकृत्य समझेंगे। सत्य संसार में अद्वितीय ठोस पदार्थ है। सत्यव्रती का दुनिया को अखंड विश्वास होना है। सयव्रती का सत्य छिपा नहीं रहता। मित्रों को विश्वास होना तो कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु आश्चर्य है कि दुश्मन भी सत्यव्रती पर विश्वास करते हैं। महाभारत उठा कर देख लीजिए कि सत्यवादी पर शत्रु ने भी विश्वास किया था या नहीं?

सज्जनो ! जब कौरव-पाडवों का युद्ध हुआ तो समग्र रणक्षेत्र खून से व्याप्त हो गया। रक्त की सरिताएँ बहने लगीं। लाखों मनुष्य कट मरे। शाम को पाण्डव अपने पड़ाव में विचार करते हैं कि हम सिर को कफन बाँध कर लड़ते हैं, किन्तु रात्रि को टोटल करते हैं तो वहीं के वहीं पाते हैं। कोई विजय नहीं मिलती। अन्त में निर्णय हुआ कि जब तक गुरु द्रोणाचार्य जीवित हैं तब तक हमारी विजय नहीं हो सकती, क्योंकि आखिर तो हम सब उन्हीं के शिष्य ठहरे ! मगर उन्हें मारना आसान नहीं है। उन पर किसी का अस्त्रशस्त्र सफल भी नहीं हो सकता, क्योंकि वे इस विद्या के गुरु हैं।

तब यह मंत्रणा होने लगी कि गुरु द्रोणाचार्य किस प्रकार मारे जा सकते हैं ? सज्जनो ! राजनीति बड़ी ही कुटिल है। भर्तृहरि ने तो राजनीति को वेश्या की उपमा दी है, जैसे वेश्या की अनेक कुचेष्टाएँ होती है, वैसे ही राजनीति में भी अनेक कुचालें होती हैं।

तो बात यह बनी कि एक बोला-उनका बेटा अश्वत्थामा है और वह उनका प्रिय बेटा है। अगर सत्यवादी युधिष्ठिर के द्वारा उसके मारे जाने की घोषणा गुरुजी के कानों में पड़ जाय तो वे अवश्य ही हताश हो जाएँगे और मोह के कारण मर जाएँगे।

सब को यह उपाय पसंद आ गया। सब मिल कर युधिष्ठिर के पास पहुँचे और बोले—महाराज, हम खतम हो रहे हैं। पराजय और विजय दिलाना आपके हाथ में है।

धर्मपुत्र ने कहा—तुम यह क्या कह रहे हो ? मैं तुम्हारा भाई हूँ और विजय की कामना तुम्हारी ही तरह मैं भी रखता हूं। विजय के लिए पूरी शक्ति लगा रहा हूँ। इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता हूँ ?

सब बोले—विजय आपके हाथ में है। एक छोटी-सी बात है और वह यह कि आप गुरु द्रोणाचार्य को सुना कर रणभूमि में इतना कह दीजिए-'अश्वत्थामा हतः।' आपके इतना कह देने से ही हमारी विजय अवश्य होगी।

युधिष्ठिर—मगर अश्वत्थामा तो जीवित है। मैं असत्य कैसे कह सकता हूँ।

सब बोले—अश्वत्थामा नामक हाथी मर चुका है। आप इस ढंग से कह दीजिए कि काम भी बन जाय और झूठ भी न कहना पड़े। आप कह दें-अश्वत्थामा हत कुञ्जरो वा नरो वा। 'ऐसा कहने मे असत्य नहीं है।

सज्जनो ! इसे कहते हैं ४२० !

तो वे बोले—महाराज, आप तो इतना-सा वाक्य कह दीजिए, शेष हम सँभाल लेंगे।

युधिष्ठिर को ऐसा कहने के लिए बाध्य कर दिया गया।

दूसरे दिन युद्धभूमि मे युधिष्ठिर ने कह दिया-'अश्वत्थामा हत. कुञ्जरो व नरो वा।" मगर 'अश्वत्थामा हत.' इतना कहने के पश्चात् जब उन्होंने 'कुञ्जरो वा नरो वा' कहा तो उनके साथियों ने इतना कोलाहल किया कि आगे के यह शब्द द्रोणाचार्य सुन ही नहीं सके। उन्होंने 'अश्वत्थामा हत. यही मात्र सुन पाया !

द्रोणाचार्य को युधिष्ठिर के वचन पर शंका नहीं थी। अत. उन्हें विश्वास हो गया कि मेरा लड़का लड़ाई में काम आ गया। इससे उनका शरीर शिथिल पड़ गया। वे लड़ने योग्य न रहे और मारे गये।

सज्जनो ! यद्यपि युधिष्ठिर कौरवों के प्रतिपक्षी थे और द्रोणाचार्य कौरवों की ओर से लड़ रहे थे, तथापि उन्हें युधिष्ठिर के वचन पर

पूर्ण विश्वास था। इसी लिए मैं ने कहा है कि सत्य विश्वास का कारण है सत्यव्रती जहाँ जाता है, उसे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि उसके जीवन में प्रामाणिकता होती है।

सत्य स्वर्ग का द्वार है। यदि स्वर्ग में जाना चाहते हो तो वह सत्यवादियो के लिए है। अजी, स्वर्ग तो हल्की श्रेणी की चीज है, सत्य तो सर्वोत्तम पद मोक्ष की भी सीढ़ी है, सोपान है, जीना है, नाल है। जो मोक्ष मे गये, सत्य की सीढ़ि से ही गये और जो जाएँगे सत्य की ही सीढी से जाएँगे। सत्य मुक्तिप्रदाता है, पर उसमें बनावट, दिखावट या कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए। सत्य पर रंग रोगन लगाने की आवश्यकता नहीं, वह तो स्वयं ही प्रभाव-शाली चमकदार है।

श्रीप्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है कि मंत्र यंत्र और विद्याएँ-सब सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। सत्यवादी पुरुषो को ही सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सत्यवादी के जप तप मे अद्‌भुत शक्ति होती है। इस विषय में एक उदाहरण सिद्ध है—

एक राजा का दीवान राज्य का दौरा करने के लिये निकला। वह जानना चाहता था कि प्रजा में कोई दुखी तो नहीं है। राज्यचक्र कैसा चल रहा है? वह नगर से बाहर निकला तो रास्ता भूल गया उसने ऐसा ऊजड़ रास्ता पकड़ लिया जहां न पानी था और न वस्ती थी, वह घूमता घूमता भूख, प्यास और गर्मी से घवड़ा गया और थक कर चूर होगया। विश्राम लेने के लिए एक वृक्ष की छाया मे बैठ कर सोचने लगा वजीर होते हुए भी मेरी जिंदगी आज खतरे में पड़ गई है। कोई आदमी नहीं दीखता जिससे मार्ग पूछा जाय। वह दुष्काल का समय था। एक भगी चारे की पैदावार न होने से अपने पशुओं को पत्ते खिला कर

ही पाल-पोस रहा था।

संयोग की बात समझिए कि वजीर जिस वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठा, उसी पर वह भंगी चढ़ा हुआ था और पत्ते काट रहा था। ज्यों ही भंगी ने पत्ते काटने के लिए डाली पर दांतला मारना चाहा, अचानक उसके हाथ से दांतला छूट गया। दांतला नीचे की ओर जा रहा था कि भंगी की दृष्टि दीवान पर पड़ी। उसने सोचा नीचे एक आदमी बैठा हुआ है। अगर उसके ऊपर दातला पड़ गया तो गजब हो जायगा। आदमी का सिर फट जायगा और वह मर जायगा।

सज्जनो! पत्ते काटने वाला भंगी था, गौड़ ब्राह्मण नहीं था। बिना नंबर का नोट था। ओसवाल,पोरवाल या अग्रवाल भी नहीं था। वह था जिसको दुनिया हिकारत की निगाह से देखती है। अछूत के घर उसका जन्म हुआ था मगर यदि वह भंगी के कुल मे जन्मा था तो क्या हो गया। उसका कर्म भंगी का नहीं था कर्म से उसे क्या कहा जाय? जो कुछ कहा जाय सो ठीक है, क्योंकि—

सर्वजातिषु चण्डालाः, सर्वजातिषु ब्राह्मणाः,।

सब जातियों में चाण्डाल होते हैं और सब जातियों में ब्राह्मण होते हैं। जो मदिरापान करता है मांसभक्षण करता है, वेश्यागमन करता है। रिशवत लेता है और अपने समाज,जाति, देश से द्रोह करता है, वह ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हो कर भी चाण्डाल है, नीच है और अधम है। इसके विपरीत, चाण्डाल कुल में उत्पन्न हो कर भी जो प्रभु का स्मरण-चिन्तन करता है, अतिथि-सत्कार करता है, दीन-दुखियों की सेवा करता है, जिसका आचरण पवित्र है, जो सत्य का अनन्य उपासक है, सत्यव्रती है, अपनी जाति के प्रति ईमानदार है, वफादार है, सदाचारी है, शुद्धाहारी है और शुद्ध व्यवहारी है, वह कर्म से ब्राह्मण है।

तो मैं कह रहा था कि भंगी कुल में उत्पन्न होने वाला यदि ब्रह्मचारी है, सदाचारी है, सत्यव्रती और महाव्रतधारी है तो वह देवों का भी पूज्य है। हरिकेशी मुनि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु तपस्या के प्रभाव से देवता उनकी सेवा में रहता था। जब भोजन को आए हुए उस मुनि से ब्राह्मणों ने घृणा की और आहार नहीं दिया तो उस देवता ने उनका तख्ता ही उलट दिया। वह ब्राह्मणत्वाभिमानी हाथ जोड़े-जोड़े मुनि के पीछे फिरते रहे।

सज्जनो ! जमाना आ रहा है कि तुम्हे भंगियों के हाथ की रोटियां खानी पड़ेंगी। भंगी के नल का पानी तो पीने ही लगे हो। तुम्हे अगर विरोध है तो अपने भाइयों के साथ है।

अफसोस ! महावीर के अनुयायियो ! किधर जा रहे हो ? सिद्धान्त को छोड़ कर ऐंजिन चलेगा तो डिब्बों का, सवारियों का और ड्राईवर का भी पता नहीं लगेगा। किन्तु भगवान् के बताये रास्ते पर चलोगे तो आनन्द के साथ अपनी मंजिल पर पहुंच जाओगे।

सज्जनो ! मैं तो यही चाहता हूं कि तुम्हारी गाड़ी स्टेशन पर पहुच जाय।

हां तो वह जाति से भंगी था। उसने देखा कुल्हाड़ी नीचे जा रही है और अनर्थ होने ही वाला है ! उसी समय उस सत्यव्रती भंगी ने सत्य भगवान का स्मरण किया और मंत्र पढा और उसके प्रभाव से उस कुल्हाड़ी को बीच में से ही वापिस खींच लिया। वजीर मरते-मरते बच गया।

वजीर ने अकस्मात् यह घटना देखी तो उसके आश्चर्य का पार न रहा। सोचने लगा-यह कैसा अद्भुत चमत्कार है। शस्त्र नीचे आया और बीच में से ही ऊपर की ओर चला गया !

भंगी नीचे उतरा तो वजीर ने पूछा-तुम

भंगी हूं। पशुओं को खिलाने के लिए पत्ते लेने आया था। कुल्हाड़ी मेरे हाथ से छूट गई। मैंने देखा कि एक मनुष्य की हत्या हो जाएगी। तब सत्य भगवान् के मंत्र से कुल्हाड़ी को वापिस ऊपर खींच लिया। यह सब सत्य का प्रभाव है। वजीर—क्या मंत्र,पढ़ा था तुमने ?

सज्जनो ! सत्य का प्रभाव अचिन्तनीय है। सत्य के प्रभाव से शूली सिंहासन बन गये, अग्नि जलकुंड के रूप में परिणत हो गई तो इस में क्या आश्चर्य है ?

वजीर ने कहा-भाई यह मंत्र साधना तो मुझे भी सिखला दो।

भंगी-आपको सिखाने से कोई लाभ नहीं होगा। मैं मंत्रसाधना सिखला भी दूं तो वह काम नहीं देगा, क्यों कि आप ऊंचे हैं और मैं भंगी हूं। आपको मुझ पर विश्वास नहीं आएगा। आपकी दृष्टि में मैं अस्पृश्य हूं। जब तक मंत्र सिखाने वाले के प्रति गुरु भाव—श्रद्धा नहीं की जाती, तब तक मंत्र सिद्ध नहीं होता।

सज्जनो ! गर्ज बड़ी बावली होती है। गधे को भी बाप बना देती है। आप जिनके साथ पंक्ति में भी बैठना पसंद नहीं करते, गर्ज होने पर उनकी जूतियों में भी बैठ सकते हो, उनकी प्रतीक्षा करते हो और जवाब मिलता है कि अभी फुर्सत नहीं है। तो फिर भाइयो ! अपनी ही जाति के भाइयों में ऊंच-नीच की कल्पना करके जाति में विग्रह उत्पन्न करना कहाँ तक उचित है ?

हां, तो वजीर को मंत्र सीखने की गर्ज थी। अतएव उसने भंगी से कहा—तुम्हारे ऊपर मैं विश्वास करूंगा।

भंगी—मुझे गुरु मानोगे ? मेरे शिष्य बनोगे ?

वजीर—हाँ, इसमें क्या संदेह है।

वजीर इखलाकसे पेश आने वाला था, वह काम निकालने वाला स्वार्थी नहीं था कि काम बना और फिर अंगूठा दिखा दिया। वह

अवसरवादी नहीं था। अतएव भंगी ने उसे मंत्र सिखा दिया।

सज्जनों! मंत्र पात्र को दिया जाता है। अगर अपात्र को दे दिया जाय तो मामला उलटा हो जाता है।

तो वजीर ने भंगी को गुरु बना लिया। उसने कहा मैं आज से तुम्हे अपना गुरु मानूँगा।

भंगी बोला-ठीक है, समय आने पर मैं आपके शिष्यत्व की परीक्षा करूँगा।

वज़ीर—अवश्य, शौक से परीक्षा लेना।

इसके पश्चात दोनों अपनी-अपनी जगह चले गये। भंगी ने यह घटना अपनी स्त्री को सुनाई। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई और सोचने लगी-मेरा पति कितना सत्यवादी है! इनके जीवन में कितनी उत्क्रान्ति है!

आदर्श रमणी अपने पति के गौरव को अपना गौरव समझती है और पति की प्रशंसा सुनकर निहाल हो जाती है। उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता।

भंगिन ने मुस्करा कर कहा-वजीर की परीक्षा तो मैं करूँगी।

वास्तव में भंगिन ने बड़ी कठिन परीक्षा ली। दस-बीस दिन बीतने पर वह गंदगी का टोकरा लेकर उधर जा पहुँची, जहाँ वजीर का कार्यालय था और सजधज के साथ वज़ीर बैठा था। वह पास जाकर चिल्लाने लगी है कोई मुझे बचाने वाला! मैं बोझ की मारी मरी जा रही हूं। है कोई मेरे पति का शिष्य जो मेरी रक्षा करे! जिसने मेरे पति से गुरुमंत्र लिया हो!

यह अवाज़ वज़ीर के कानों में पड़ी। वह बाहर आया और देखता क्या है कि यह तो मेरे गुरु की पत्नी है! वज़ीर

हाथ की कलम वहीं फेंक कर, भंगिन के निकट गया और बोला- माता मैं हूँ तुम्हारे पति का शिष्य। लाओ माँ मेरे सिर पर दो बोझा!

भगिन बोली-बस, परीक्षा हो चुकी!

अरे ब्यावर वालो! कुछ समझे? मैंने तो तुम्हारी कठोर परीक्षा ली भी नहीं है, किन्तु कोई न कोई कसोटी लगाने वाले निकल आते हैं पृथ्वी पर सभी तरह के लोग मौजूद हैं।

वजीर एक प्रतिष्ठित पुरुष था। ऊँचे पद पर था। शाही पोशाक में था। ऊँचे मान और ऊँची शान का धनी था। फिर भी फौरन गंदगी का टोकरा उठाने को तैयार हो गया। वह सच्चा चेला था और गुरु को हृदय मे गुरु मान चुका था।

यह घटना विद्युत् वेग से सारे नगर मे प्रसिद्ध हो गई। राजा के कानों तक भी पहुँची। कुछ चुगलखोरों ने भी राजा के कान भरे। अतएव राजा ने वजीर को भंगी का शिष्य समझ कर त्याग दिया। वजीर शान्ति और सन्तोष के साथ अपने घर रहने लगा। कुछ दिन बाद अचानक किसी शत्रु ने राजा पर आक्रमण कर दिया। राजा ने उसका प्रतिरोध किया, मगर सफलता न मिली। अन्त में उसका धैर्य टूट गया। तब उसे अप ने पुराने वजीर की याद आई। वजीर उसी समय बुलवाया गया। तब राजा ने सारी स्थिति उसके सामने रखते हुए कहा-अतीव की कटुकता को भूल जाओ और राज्य की रक्षा का कोई कार-गर उपाय करो। मेरी प्रतिष्ठा तुम्हारे हाथ है।

दीवान ने कहा-आप निश्चिन्त रहो कल दुश्मन भाग जाएगा।

अगले दिन दुश्मन मैदान में आया तो वजीर ने अपने गुरु के बतलाये मंत्र से सारे अस्त्र-शस्त्र खेंच लिये। दुश्मन

निहत्था हो कर भाग गया।

इस अद्भुत घटना को देख राजा विस्मय के सागर में डूब गया। उसने वजीर से क्षमा मॉंगी और उसके पुराने पद पर पुनः आरूढ़ कर दिया।

भद्र पुरुषो! तुम भी मुझे गुरु मानते हो और अपने को चेला समझते हो। तो यह फकीर भी आज ललकार कर कह रहा है कि है कोई गुरु का शिष्य महावीर का शिष्य? अनुयायी? मेरे सिर पर बोझ पड़ा रहा है। तुम्हारे जातिवाद की मिथ्या धारणा के बोझ से मैं दबा जा रहा हूँ। इस बोझ से मेरा हृदय छिन्न भिन्न हो रहा है अरे है कोई मेरे प्राणप्रिय महावीर का शिष्य जो मेरे बोझ को उतारने वाला हो? मेरा हृदय संतप्त है मेरी आत्मा अशान्त है कोई भगवान् महावीर का शिष्य है तो मुझे इस बोझ से मुक्ति दिलावे!

ईमानदारी से, वफादारी से, समझ गये हो तो प्रतिज्ञा करो कि हम धर्मपक्ष में जातिवाद को नहीं अपनाएँगे। संसारपक्ष में तुम्हारा व्यवहार तुम जानो।

(सभी स्त्री पुरुषों ने हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा की) आज तुमने मेरा बहुत कुछ बोझ हल्का कर दिया। इसी प्रकार बोझ बँटाते रहोगे तो साधु आते रहेंगे और धर्म को पानी मिलता रहेगा। यह फुलवाड़ी फलती-फुलती रहेगी। कल इस फकीर को सुखे-समाधे विहार कर जाना है अगर आप सत्यता का पालन करेंगे तो संसार-सागर से तिर जाएंगे।

प्रकाशक—
राजा राम एण्ड सन्ज
मोटर पार्ट्स डीलर्ज
अमृतसर

सुरेन्द्र कुमार के अधिकार में पञ्चनद प्रेस (प्राईवेट) लिमिटिड
दुर्याना आबादी अमृतसर में छपी।